परिचय

ंवत् १९८३ की सर्दियाँ शायद शुरू ही हुई थीं। लाहौर में
क अजीज ने आ कर मुझे एक साधु का पता दिया, जो
ृ के अच्छे पंडित और भारतीय दर्शन के विद्वान् थे, और
ही में कश्मीर-लदाख की यात्रा से लौटे थे; कुछ समय से
ा झुकाव बौद्ध वाङ्मय की ओर हुआ था; और पालि
ग्रन्थों का अध्ययन करने को वे लंका जा कर रहने की सोच
े। मेरे उक्त अजीज से परिचय होने पर उन्होंने उसे भी
ा हमराही बनाना चाहा; अजीज ने अपनी आदत के
सार इसमें मुझसे सलाह लेने की जरूरत समझी। जैसी
ससे आशा थी, मैंने इस प्रस्ताव के लिए सहर्ष अपनी अनु-
दी। मेरे कहने पर अजीज ने दूसरे दिन मुझे बाबा रामोदार
र्शन भी कराये। उस साधु-मूर्ति को यदि मैं उस दिन के बाद
कभी न भी देख पाता, तो भी उसके लम्बे कद तथा चौड़े
क के नीचे चमकने वाली पैनी छोटी आँखों को—जिनमें एक
संकल्पों वाले सच्चे हृदय तथा एक प्रखर प्रतिभा का स्पष्ट
बिम्ब था—कभी न भूल सकता। बाबा रामोदार का मुख्य
तब तक सारन जिले में था। मेरे अजीज भी उसके बाद
ार चले गये। संवत् १९८४ की बरसात के बाद मुझे भी
ा-चक्र ने पटना पहुँचा दिया।

बाबा उस से पहले लंका जा चुके थे। मेरे अजीज जब मुझ से

पटना में मिले, वे भी लङ्का जाने की तैयारी मे थे। हिन्दी-
अब उन्हे भदन्त आनन्द कौसल्यायन के नाम से जानत
लका से आयुष्मान् आनन्द के जो पत्र आते रहे, उन से
के और उन के समाचार मुझे बराबर मिलते रहे।

पालि तिपिटक का अध्ययन पूरा कर, अपनी नई योज
सामने रक्खे हुए, सवत् १९८५ के पौष में, बाबा रामोदार स
आश्रम की मेरी कोठरी में पधारे। उस नई योजना की
मुझे पहले ही मिल चुकी थी। तिब्बती और चीनी बौद्ध
के अध्ययन मे पाँच बरस लगाने का संकल्प कर बाबा ल
चले थे; यदि उस के बाद वे जिन्दा भारत लौट पाते, तो न
में एक आर्य विद्यालय की स्थापना करते, और वहाँ बै
हिन्दी जगत् को अपने अध्ययन के फल भेट करते। ल
अपने साथ वे एक अलमारी भर पालि पुस्तकें और
नोटबुकें भी लाये थे; वे नोटबुकें सूचित करती
समूचे तिपिटक को उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से छान
था, उन सब पुस्तकों पर उसी स्वप्न-सृष्टि के नालन्दा-आर्य-
की मोहर लगी थी। पुस्तकों और नोटबुकों को मेरे पास
आगे रवाना हुए। उनके नेपाल पहुँचने की सूचना यथ
मिली, दूसरा पत्र उन्होंने शिगर्चे पहुँच कर भेजा।

एक नई समस्या अब उपस्थित हो गई। बाबा रामोद
खाली हाथ लका गये थे, वैसे ही खाली हाथ तिब्बत च

ा। राहखर्च के लिए मुश्किल से सौ रुपया उन के पास था। ंका में वे भिक्खुओं के एक परिवेण (विद्यालय) में पढ़ते थे, मौर पढ़ाते थे। अपने त्यागमय भिक्षु जीवन से उन्होंने और प्रानन्द ने लंका के बौद्धों को मुग्ध कर लिया था। उन्होंने सोचा ा तिब्बत के भी किसी मठ में वे पढ़ेंगे और पढ़ायेंगे—उन्हें ोटी-कपड़े और किताबों के लिए कोई चिन्ता न करनी पड़ेगी। केन्तु शीघ्र ही उन्हें मालूम हो गया कि उनके ज्ञान और त्याग की वहाँ वैसी कद्र होने को न थी; तिब्बत के किसी ड-सङ्[1] ें उनका गेश-गेन[1] या गे-शे[1] हो जाना सम्भव न था, जब तक ारत से मदद न गई, बाबा को काफी कष्ट झेलना पड़ा। ऐसी शा में काशी विद्यापीठ के सञ्चालकों ने उनकी सहायता करने का जो निश्चय किया, वह अत्यन्त सराहनीय था। हमारे इस अभागे देश में ऐसे दूरदर्शी और गुण-ग्राहक कहाँ हैं जो ऐसे गुमनाम कार्यक्षेत्रों में चुपचाप अपना जीवन भिड़ा देने वाले कर्मियों की सहायता करने को प्रस्तुत हों? काशी विद्यापीठ ने सचमुच बड़ी बात की। किन्तु उन की सहायता से पहले सिंहल से सहायता पहुँच चुकी थी, और वह इस शर्त पर कि बाबा वापिस सिंहल चले आँय।

किन्तु सिंहल में इस बार वे कुछ ही मास रह पाये थे—और इस बीच उन्होंने बुद्धचर्या लिख डाली थी—कि देश की

---

१ दे पृ० २२८।

स्वाधीनता-कशमकश की पुकार उन्हें फिर इधर खींच लाई। काशी में बुद्धचर्या छपा कर बिहार की राष्ट्रीय कशमकश में पड़ने के विचार से १९८७ की सर्दियों में जब वे काशी आये, मेरी छावनी भी तब काशी विद्यापीठ में ही पड़ी थी। आचार्य नरेन्द्रदेव जी भी वहीं थे। इसी समय तिब्बत-यात्रा का ल्हासा पहुँचने तक का अंश लिखा गया। कुछ समय बाद काशी विद्यापीठ के ज़ब्त तथा विद्यापीठ के बन्द हो जाने से वह यात्रा तब पूरी न लिखी गई। यही नहीं, ल्हासा पहुँचने से ठीक पहले वाला अंश जो छप न पाया था, पुलिस के ताले में बन्द होने के बाद गड़बड़ में पड़ गया। चौथी मंजिल के अन्त में पाठकों को यह अभाव स्पष्ट दीख पड़ेगा। पाठक वहाँ इतनी बात समझ लें कि ग्यांची से बाबा रामोदार ७ दिन में ल्हासा पहुँच गये; और वहाँ पहुँच कर आपने दलाई लामा के मन्त्री को अपनी सूचना दे दी। आपने महागुरु दलाई लामा के नाम संस्कृत पद्यमय एक पत्र भेजा, जिसमें भारत और भोट के प्राचीन सम्बन्ध का उल्लेख करने के बाद अपने भारतीय बौद्ध होने की सूचना दी, और आधुनिक बौद्धों के प्रमुख महागुरु दलाई लामा से तिब्बत में रह कर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने की इजाजत माँगी।

स्वामी जी अपने साथ तिब्बत से बहुत से चित्र भी लाये थे। उन में से भी अनेक काशी विद्यापीठ के बन्द होने पर तितर बितर हो गये।

यात्रा का शुरु का अंश ज्यों ज्यों लिखा जाता, आचार्य

नरेन्द्रदेव जी, मेरी सहधर्मिणी और मैं उसे लेखक की जबानी सुना करते। उन्हीं दिनों एक बार मेरी सहधर्मिणी ने और मैंने स्वामी जी की समूची पिछली जीवन-कथा आग्रह कर के उनके मुँह से सुनी। मेरी इच्छा थी उसे फिर सुन कर पूरा यहाँ लिख डालता; किन्तु फिर से सुनाना स्वामी जी ने स्वीकार नही किया। उन के जीवन की जो मोटी मोटी बातें मुझे याद हैं, उन्हीं को पाठकों की उत्सुकता की तृप्ति के लिए यहाँ लिखता हूँ।

भदन्त राहुल का जन्म आजमगढ़ जिले का है। उन की आयु अब शायद ३८-३९ बरस है। बचपन में वे काशी में पुराने ढर्रे से संस्कृत की शिक्षा पाते रहे। उन्होंने विवाह नहीं किया; बचपन में ही घर से भाग गये, और सारन जिले के एकमा नामक स्थान में एक वैष्णव महन्त के चेले बन गये। एकमा का वह मठ उनका दूसरा घर बन गया। वे फिर काशी और अयोध्या में पढ़ने को चले आये। आजकल भदन्त राहुल मांसाहार के बड़े प्रचारक हैं; उन का यह विश्वास है कि माँस की ख़ुराक छोड़ देने से हमारी जाति का बड़ा अंश क्षीण और नष्ट हो रहा है; किन्तु उन दिनों के ब्रह्मचारी रामोदार को वैष्णव पंथ की कट्टर धुन सवार थी। एक बार उस ने अयोध्या के एक मन्दिर में बकरों की बलि बन्द कराने के लिए अपने सहपाठियों के साथ एक सत्याग्रह सा कर डाला। उस आन्दोलन में उस बालक को बहुत से वैष्णव कहलाने वालों की सचाई परखने का मौका मिला; कुछ आर्यसमाजियों ने उसे सच्ची सहायता दी। रामोदार तब से आर्य-

समाज की ओर झुकने लगे। वे आर्यसमाजी हो गये, और आगरा में प० भोजदत्त के मुसाफिर-विद्यालय में भरती हो उन्होंने कुछ अरबी-फारसी भी पढ़ डाली। फिर दर्शन-ग्रन्थों का अध्ययन करते वे मद्रास चले गये। वे आर्यसमाज के प्रचारक बन पञ्जाब, सीमाप्रान्त और कश्मीर भी घूमे।

मुसाफिर-विद्यालय में मौलवी महेशप्रसाद भी उनके एक शिक्षक थे। आर्यसमाज की छोटी-मोटी संस्थाओं के वातावरण में भी अपने देश का दर्द विद्यमान था; मौलवी महेशप्रसाद ने वह वेदना युवक रामोदार के दिल में भी जगा दी। उस वेदना ने बढ़ते बढ़ते बाबा रामोदार को सन् १९२१ की कशमकश में खींच लिया; वहीं सारन जिला उन का कार्यक्षेत्र रहा; अन्त में उन्हें हजारीबाग की जेल में शान्ति मिली। सन् १९१४-१५ में अमरीका से जो सिक्ख पजाब में गदर उठाने लौटे थे, उन्हें सिक्ख मन्दिरों के महन्तों ने सिक्ख धर्म से पतित करार दिया था। सन् १९२०-२१ में उन में से बहुतों के बाहर आने पर उन महन्तों के कलक से सिक्ख गुरुद्वारों को मुक्त कर देने का आन्दोलन उठा। भारत भर में उसकी प्रतिध्वनि हुई; गया के बुद्ध-मन्दिर को बौद्धों के हाथ सौंप देने का आन्दोलन भी उसी की एक पुकार थी। गया कांग्रेस के समय से बाबा रामोदार ने उस आन्दोलन में विशेष भाग लिया। वे बौद्ध मार्ग की ओर झुके। आगे की कहानी सीधी है।

इस परिचय में मैं पाठकों का ध्यान राहुल जी की सच्ची

साध और लगन के अतिरिक्त उन के स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन की ओर विशेष रूप से खींचना चाहता हूँ। आज बीस-बाइस बरस से हिन्दी वाङ्मय के क्षेत्र में मौलिक मौलिक की पुकार है। पर मौलिक रचना के लिए मौलिक जीवन चाहिए। बँधे बँधाये रास्ते से एक पग इधर-उधर हटने की हिम्मत न करने वाले कभी नई सृष्टि नहीं कर सकते। न तो तिब्बती भाषा हमारे स्कूलों-कालेजों में पढ़ाई जाती है, और न हिमालय की जोतें चढ़ने को रेलगाड़ी के टिकट कुछ काम आते हैं। जर्मनी के संस्कृतज्ञ प्रो० रुदाल्फ ओतो सिंहल में राहुल जी से मिले तो पूछने लगे आपने यह आधुनिक आलोचनात्मक पद्धति कहाँ सीख ली। राहुल जी ने कहा—अँगरेज़ी स्कूल में तो चार-ही-छः महीने पढ़ा हूँ! मौलिक जीवन और चिन्तन का जिन्हें नमूना देखना हो, वे इस पुस्तक को पढ़ें। मेरे जानते यह हिन्दी में यात्रा विषयक पहली मौलिक कृति है।

लेखक की शैली के विषय में भी दो शब्द कहे बिना जी नहीं मानता। हिन्दी के बहुतेरे लेखक आज एक रोग से पीड़ित हैं, जिसे अतिरञ्जन-ज्वर कहना चाहिए। जिन्हें वेदनाओं की गहराई अनुभव करने का कभी अवसर नहीं मिलता, वे जरा जरा सी बात में निरर्थक शब्दों का तूफ़ान उठाया करते हैं। उस अक्षर-डम्बर से जी ऊबता है। यहाँ उस के मुकाबले में आप अत्यन्त संयत भाव और सुरुचिपूर्ण शब्द पायेंगे। यही वास्तविक कला है।

मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूँ कि विद्वान् लेखक ने अपनी इस कृति के सम्पादन करने का अवसर मुझे दिया है। यात्रा को

मंजिलों में और मंजिलो को भी अनेक टुकडों मे मैंने बाँटा है, तथा पाद टिप्पणियाँ भी प्राय सब मेरी हैं। यह अभीष्ट था कि मेरी लिखी सब पाद-टिप्पणियाँ कोष्टकों में रहती, पर छपाई की भूल-चूक से अनेक जगह वैसा नहीं हो पाया। वास्तव में पृ० १३, १९४, १९५, १९६ की ३, २०० की ३, २०२, २०१, और ३०६ की टिप्पणियों के सिवाय बाक़ी सभी मेरी हैं।

इस पुस्तक के शुरू के अश प्रयाग की सरस्वती, काशी के विद्यापीठ तथा पटना के देश मे छप चुके हैं। उनके मालिकों ने उन्हें फिर से छापने की इजाज़त दी, तथा सरस्वती मे जो चित्र छपे थे उनके ब्लाक भी देने की कृपा की, इसके लिए प्रकाशक की ओर से उन्हे अनेक धन्यवाद।

स्वामी जी का आग्रह था कि यह पुस्तक सन् १९३३ मे प्रकाशित हो जाय। मुझे खेद है कि अन्य अनेक धन्धों में मेरे व्यस्त रहने से वैसा न हो सका। इस से भी बढ कर मुझे इस बात का खेद है कि इसे जल्दी छपवाने के विफल प्रयत्न में छपाई की भूल-चूक बहुत रह गई है।

प्रूफ देखने का कार्य श्रीयुत वीरसेन विद्यालंकार तथा राजनाथ पांडे बी० ए० ने किया है, जिसके लिए वे दोनों धन्यवाद के पात्र हैं। इस ग्रन्थ की छपाई के समय वे दोनो सज्जन भी अन्य कार्यों में बहुत व्यस्त रहे, इसी से गलतियाँ रह गई।

प्रयाग

८-३-३४ जयचन्द्र

विषय-तालिका

चौथी मंज़िल—ब्रह्मपुत्र की गोद में

पाँचवीं मंज़िल—अतीत और वर्तमान तिब्बत की झाँकी

संशोधन-परिवर्धन

शुद्धाशुद्ध-पाठ को सूची का पाठक लोग बहुत कम ही उपयोग करते हैं। इसलिए उन्हें मैंने पाठकों के ही शुद्ध करने के लिए छोड़ दिया है। हाँ, कुछ और स्थान हैं जिनके बारे में मुझे यहाँ कुछ कह देना है।

(१) कई जगह मैंने विभिन्न भारतीय और तिब्बतीय ऐतिहासिक पुरुषों के समय दिये हैं; लेकिन सबसे प्रामाणिक समय वे हैं जिन्हें मैंने इस विषय की अपनी अन्तिम पुस्तक 'तिब्बत में बौद्ध धर्म' में दिया है। उससे ले कर एक छोटी सी सूची पं० राजनाथ ने ग्रंथ के अंत में लगा दी है, जिससे समय को सुधार लेना चाहिए।

(२) पृष्ठ २८ में माहुरी लोगों को मैंने मौखरी लिखा है, जो कि और देखने से गलत मालूम होता है। मगध के पीछे वाले गुप्तों को मजूसी मुलकल्प में मथुराज (मथुरा में उत्पन्न) बतलाया है; इससे माहुरी, माथुरी जाति मालूम होती है।

(३) पृष्ठ १८९ में दलाई लामा को बुद्ध का अवतार लिखा है, जिसकी जगह बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का अवतार पढ़ना चाहिए। १३ वें दलाई लामा मुनिशासन-सागर का १८ दिसम्बर की रात को देहान्त हुआ है।

(४) १८८ पृष्ठ में पढ़ना चाहिए—तिब्बत की अधिकांश बस्तियाँ १२ हज़ार फुट से ऊपर हैं; हिमालय की ऊँची दीवारों के कारण समुद्र से चले बहुत कम बादल वहाँ तक पहुँचते हैं, जिसकी वजह से वर्षा की तरह बर्फ भी वहाँ कम पड़ती है।

(५) पृष्ठ १९४—विक्रमशिला विहार को महाराज धर्मपाल (७६९—८०९ ई०) ने स्थापित किया था।

(६) पृष्ठ २०८-९—आचार्य दीपंकर का जन्म भागलपुर का ही मालूम होता है। भगलपुर या भगलपुर का नाम तिब्बती ग्रंथों में आया है, और उसे *विक्रमशिला* के दक्षिण में *बतलाया* गया है जो कि सुल्तानगंज को विक्रमशिला मानने पर ठीक जँचता है; किन्तु वहाँ 'नातिदूर' लिखा है। परन्तु एक तिब्बत में बैठे आदमी के लिए १२-१४ मील को 'नातिदूर' लिखना असम्भव नहीं है।

पटना
३-३-३४

राहुल सांकृत्यायन

आचार्य शान्तरक्षित

तिब्बत में सवा वरस

पहली मंज़िल

भारत के बौद्ध खँडहरों में

§ १. लंका से प्रस्थान

सन् १९२६ में मैंने कश्मीर से लदाख की यात्रा की थी। वहाँ से लौटते हुए दलाई लामा के डरी-खोर्सुम[1] प्रदेश में कुछ दिनों रहा, किन्तु तब कई कारणों से वहाँ अधिक न ठहर सका। सन्

[१. पच्छिमी तिब्बत को, अर्थात् कैलाश पर्वत से पच्छिम के प्रान्त को, ङरी कहते हैं। उसी का पूरा नाम है ङरी-खोर्सुम अर्थात् ङरी-चक्रत्रय-ङरी के तीन प्रान्त। ङरी का शब्दार्थ—शक्ति। अलमोड़ा से जो यात्री कैलाश जाते हैं, वे ङरी में ही पहुँचते हैं।]

१९२७-२८ मे मैंने सिंहल-प्रवास किया ; उस समय मुझे फिर तिब्बत जाने की आवश्यकता मालूम हुई। मैंने देखा कि भारतीय दार्शनिकों के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद तथा भारतीय बौद्ध धर्म की बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री मुझे तिब्बत जाने से ही मिल सकती है। मैंने निश्चय कर लिया कि पाली बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन समाप्त कर तिब्बत अवश्य जाऊँगा।

१९२८ में मेरा सिंहल का कार्य समाप्त हो गया और पहली दिसम्बर की रात को डाक से मैं अपनी यात्रा के लिए रवाना हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि तिब्बत जाने का रास्ता और उपाय मैंने पहले ही से सोच रक्खा था। मैं यह जानता था कि खुल्लमखुल्ला ब्रिटिश सीमा पार करना लगभग असम्भव होगा। पासपोर्ट के झगड़ों मे पडना और अधिकारियों की कृपा की राह देखते रहना मुझ से न हो सकता था। कलिम्पोङ से सीधा ल्हासा का मार्ग तो बहुत खतरनाक था, क्योंकि उधर ग्यांची तक अँगरेजी निगाह रहती है। इसीसे मैंने अधिकारियों की आँख बचा तिब्बत जाने का निश्चय किया। मैंने नेपाल का रास्ता पकडा। नेपाल घुसना भी आसान नही है। वहाँ के लोग भी अँगरेजी प्रजा को बहुत सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। और यही हालत भोटिया (तिब्बती) लोगों की है। इस प्रकार मैं तीन गवर्न्मेंटों से नज़र बचा कर ही अपने लक्ष्य पर पहुँच सकता था। अस्तु।

यात्रा के सम्बन्ध मे जानने के लिए श्रीयुत कावागुची, तथा

मदाम् नील आदि की पुस्तकें मैंने पहले पढ़ी थीं। उन से मुझे भोटिया लोगों के स्वभाव-बर्ताव की जानकारी के सिवा मार्ग के सम्बन्ध में कोई सहायता न मिली। अन्त में भारतीय सरकार के सर्वे के नक्शों से काठमांडू (नेपाल) से तिब्बत जाने वाले रास्तों को मैंने लिख डाला। नक्शों तथा वैसी दूसरी सन्देह की चीजों को पास नहीं रखना चाहता था। नेपाल में घुसने को मैंने शिवरात्रि का समय उपयुक्त समझा। सन् १९२३ में शिवरात्रि के समय मैं नेपाल हो आया था, और चुपके से डेढ़ मास वहाँ रहा भी था। मैंने देखा, अभी शिवरात्रि को तीन मास बाकी हैं। सोचा, इस बीच पच्छिमी और उत्तरी भारत के बौद्ध ऐतिहासिक और धार्मिक स्थानों को देख डालूँ।

कोलम्बो से चल कर सवेरे हमारी ट्रेन तलेमन्नार पहुँची। यहाँ स्टीमर का घाट है। भारत और सिंहल के बीच का समुद्र स्टीमर के लिए सिर्फ दो घंटे का रास्ता है। उस में भी सिर्फ चंद मिनट ही ऐसे आते हैं जिन में कोई तट न दिखाई देता हो। सिंहल से आने वाली सभी चीजों की जाँच कस्टम-अधिकारियों द्वारा धनुष्कोडी में होती है। मैंने प्राय: पाँच मन पुस्तकें, जिन का अधिकांश त्रिपिटक[1] और उन की अट्ठकथायें[2] थीं, जमा की थीं। खोलने और फिर अच्छी तरह न बन्द करने में पुस्तकों के खराब

[१. बौद्ध धर्म-ग्रन्थ तीन पिटकों में विभक्त हैं।]

[२. अट्ठकथा = अर्थकथा = भाष्य।]

होने के डर से मैंने अपने सामने खोले जाने के लिए उन्हें साथ रक्खा था।

धनुष्कोडी में पुस्तकें दिखा कर मैंने उन्हें पटना रवाना किया। फिर वहाँ से रामेश्वर, मदुरा, श्रीरंगम्, पूना देखते हुए कार्ले पहुँचा। कार्ले की पहाड़ों में कटी गुफायें स्टेशन मलवाड़ी (जी० आई० पी०) से प्रायः अढाई मील हैं। बराबर मोटर की सड़क है। साबुत पहाड़ काट कर ये गुफायें बनाई गई हैं। चैत्यशाला विशाल और सुन्दर है, जिस के अन्त के छोर पर पत्थर काट कर एक बड़ा स्तूप बनाया गया है। शाला के विशाल स्तम्भों पर कहीं कहीं बनवाने वालों के नाम भी खुदे हैं। शाला के बगल में भिक्षुओं के रहने की छोटी-छोटी कोठरियाँ हैं। ऊपर सुन्दर जलाशय है। यह सब आध मील से ऊपर की चढ़ाई पर है।

कार्ले से नासिक पहुँचा। नासिक के आसपास भी बहुत सी लेणियाँ (गुहायें) हैं। सब को देखने का मुझे अवसर नहीं था। मैं १२ दिसम्बर को सिर्फ पांडव गुफा को देखने गया। यह शहर से प्रायः पाँच मील दूर है। सड़क है, मोटर और टमटम भी सुलभ हैं। यहाँ कार्ले जितना चढ़ना नहीं पड़ता, बाईं ओर कितने ही महायान देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी हैं। बड़ी चैत्य-शाला के छोर में विशाल बुद्धप्रतिमा है। एक चैत्यशाला के चैत्य को खोद कर ब्राह्मण देवता की प्रतिमा भी बनाई गई है। लेखों में

ब्राह्मण-भक्त शक राजकुमार उषवदात[1] और उस की कुटुम्बिनी के भी लेख हैं।

नासिक से मुझे वेरूळ[2] जाना था। औरङ्गाबाद स्टेशन पर उतर कर मुझे एक विचित्र अनुभव हुआ। प्लैटफार्म के बाहर निकलते ही पुलिस के सामने हाजिर होना पड़ा। नाम बतलाने में तो मुझे कोई उज्र था। किन्तु जब अपमानजनक स्वर में पुलिस के सिपाही ने बाप आदि का नाम पूछा तब मैंने इनकार कर दिया। फिर क्या था, वहाँ से मुझे थाने में, फिर तहसीलदार के पास तक घसीट कर हैरान किया गया। इससे कहीं अच्छा होता यदि हैदराबाद की नवाबी ने बाहर से आनेवालों के लिए पासपोर्ट का नियम बना दिया होता। खैर। तहसीलदार साहब भलेमानस निकले। उन्हों ने मद्रास के गवर्नर के आज वेरूळ-दर्शन का बहाना बता कर मुझे छुट्टी दी। दूसरे दिन मोटर-बस पर चढ़ कर प्रायः ९ बजे वेरूळ पहुँचा। उसी बस से एक और अमे-

---

[१. ई० पू० १०० से कुछ पहले शकों ने अपने देशशकस्थान (सीस्तान) से सिन्ध-गुजरात पर चढ़ाई की थी, और वहाँ से उज्जैन-महाराष्ट्र पर। उज्जैन का शक राजा नहपान बहुत प्रसिद्ध हुआ। उषवदात नहपान का जमाई था। पैठन (महाराष्ट्र) के राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपान या उस के किसी वंशज को मार कर २७ ई० पू० में उज्जैन वापिस लिया। गौतमीपुत्र ही प्रसिद्ध विक्रमादित्य था।]

[२. 'वेरूळ' का बिगाड़ा हुआ अँग्रेज़ी रूप है-'एलोरा'।]

रिकन भी आये थे। सड़क से गुफा जाते वक्त पता लगा वे भी मेरी तरह मस्तमौला हैं। सूथर महाशय 'ओहायो वेस्लियन विश्वविद्यालय' (अमेरिका) के धर्मप्रचार-विभाग के अध्यक्ष हैं। वे अमेरिका से अंकोरवाट[1] आदि की भारतीय भव्य प्राचीन विभूतियों को देखते हुए भारत आ पहुँचे थे। उन्होंने बहुत सहानुभूति-पूर्ण मानव हृदय पाया है। वेरूळ में कोई डाकबँगला नहीं है और न कोई दूकान। गुहा के पास ही पुलिस-चौकी है। सिपाही मुसलमान हैं और बहुत अच्छे लोग हैं। कह देने भर से यात्री की अपनी शक्ति भर सहायता करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

प्रथम हम ने कैलाश-मन्दिर से ही देखना आरम्भ किया। एक विशाल शिवालय आँगन द्वार कोठे कमरे हाथी वाहन नाना मूर्ति चित्र आदि महापर्वतगात्र को काट काट कर गढ़े गये हैं। यह सब देख कर मेरे मित्र ने कहा—इस के सामने अंकोरवाट की गिनती नहीं की जा सकती। यह अतीत भारत की सम्पत्ति, दृढ मनोबल, हस्तकौशल सभी का सजीव स्वरूप है।

कैलाश समाप्त कर कैलाश के ही चश्मे पर हम दोनों ने अपने मेहरबान सिपाही की दी हुई रोटियों से नाश्ता किया। इस के बाद बौद्ध गुहाओं के हिस्सेवाले छोर से देखना आरम्भ किया।

[१. आधुनिक फ्रांसीसी हिन्दचीन के कम्बुज प्रान्त में, जो कि एक प्राचीन आर्य उपनिवेश था।]

कैलाश के बाईं ओर के छोर से १२ बौद्ध गुहायें और फिर ब्राह्मण गुहायें हैं, जिन के बीच में कैलाश है। अन्त में चार जैन गुहायें हैं। वस्तुतः इन को गुहा न कह कर पहाड़ में काटे हुए महल कहना चाहिए। कल मद्रास के गवर्नर के आने से यहाँ खूब सफाई हो गई थी, इस लिए हमें चमगादड़ों की बदबू और ततैयों के छत्तों से टकराना न पड़ा।

सूर्यास्त हो गया था। उस वक्त हम अन्तिम जैन गुहा को समाप्त कर पाये थे। लौटते वक्त हमारे दिमाग में कभी पहाड़ को काट कर अपनी श्रद्धा और कीर्ति को अटल करने वाले अपने उन पुरखों की पीढ़ियों का ख्याल आ रहा था। हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म की विशाल कला कृति तथा हृदयों को इस प्रकार एक पंक्ति एक स्थान में शताब्दियों अनुपम सहिष्णुता के साथ फूलते-फलते देखना क्या आश्चर्य-युक्त बात नहीं थी?

१४ दिसम्बर को हम दोनों ने वहीं पुलिस की चौकी में विश्राम किया। बस्ती कुछ दूर दूर है। यदि ये भलेमानस सिपाही न हों, तो यात्रियों को यहाँ रहने में बहुत तकलीफ हो सकती है। उन्होंने हमारे लिए दो चारपाइयाँ दे दीं और शाम को गर्म गर्म रोटियाँ भी। सूथर महाशय भाग्यवान् थे, उन्हें गर्म चाय भी मिल गई।

१५ दिसम्बर को हम ने वहाँ से दौलताबाद की ओर पैदल प्रयाण किया। रास्ते में, खुल्दाबाद में, हठधर्मी सम्राट्

औरंगजेब की समाधि भी देखी, जिस के सामने पीर जैनुद्दीन की समाधि है। देवगिरि (दौलताबाद) का दूर तक फैला हुआ खँडहर बीच मे खड़ी अकेली पहाड़ी पर अनेक सरोवरों दरवाजों भूल-भुलइयों पानी के चहबच्चों मंदिरध्वंसो मीनारों तहखानों से युक्त विकट दुर्ग आज भी मनुष्य के चित्त मे आश्चर्य पैदा किये बिना नहीं रहता। पानी का आराम तो पहाड़ी की चोटी के पास तक है। इन्हीं देवगिरिवासियों की ही विभूति और श्रद्धा की सजीव मूर्ति हैं उक्त कैलाश और उस के पास की गुहायें। देखते ही दिल बागी होने लगता है। भला इन के स्वामी कैसे पराजित हो सकते थे ? लेकिन पराजित होना सत्य है।

तीसरे पहर हम लोग औरङ्गाबाद आये। सूथर महाशय ने पहले ही से डाक-बँगले में इन्तजाम कर लिया था, इसलिए मेरे लिए भी आसानी हुई। दूसरे ही दिन हमें अजिंठा के लिए चल देना था, इसलिए मैं भी अपना सामान परिचित गृहस्थ के यहाँ से उठा लाया।

§ २. अजिंठा

सुनने मे आया था कि सवेरे ही फर्दापुर को वस जाती है, लेकिन वह नौ बजे चली। निजाम सरकार ने बसों का ठेका दे रक्खा है, जिस से एक आदमी मनमानी कर सकता है। इस मनमानी मे यात्री को पैसा अधिक देना और कष्ट उठाना पड़ता है। किसी तरह हम लोग एक बजे फर्दापुर के डाक-बँगले पर

पहुँचे। गवर्नर साहब चले गये थे। निज़ाम-सरकार के अफ़सर लोग खेमे वगैरह बँधवा रहे थे। भोजन के बाद हम अजिंठा देखने चले। डाक-बँगले से यह प्रायः तीन मील है। बहुत दिनों से अजिंठा के दर्शन की साध थी। आज पूरी हुई। यहाँ भी गवर्नर के लिए ख़ास कर सफ़ाई हुई थी। हमने घूम घूम कर नाना समयों की बनी नाना गुहाओं सुन्दर चित्र प्रतिमाओं शालाओं स्थान की एकान्तता जल की समीपता हरियाली से ढँके पहाड़ों की सुन्दरता को अतृप्त हो देखा। अभी पूरी तौर देख भी न पाये थे कि *"बन्द होने का समय आ रहा है"* कहा जाने लगा। किसी प्रकार अन्तिम गुहाओं को भी जल्दी जल्दी समाप्त किया।

रास्ते में लौटते वक्त सूथर महाशय ने इन कृतियों की चर्चा के साथ वर्तमान भारत की भी कुछ चर्चा छेड़ दी। उन्होंने वर्तमान भारत के विचार और जातीय वैमनस्य की भी बात कही। मैंने कहा—विचार तो वही हैं जो एक उठती हुई जाति के होने चाहिएँ। और यह भी निस्सन्देह है कि बाधाओं के होते हुए भी ये विचार आगे बढ़ने से रोके नहीं जा सकते। वैमनस्य हमारी बड़ी भारी निर्बलता है। जातीयता और मज़हब एक चीज़ नहीं है और न वे एक दूसरे से बदलने लायक चीज़ें हैं। दोनों का एक दूसरे पर असर पड़ता है और वह अनुचित भी नहीं है। तो भी जब कोई मज़हब जाति के अतीत से आते हुए प्रवाह को—इस की संस्कृति को—हटा कर स्वयं स्थान लेना चाहता है, तब यह उस की बड़ी ज़बर्दस्त धृष्टता है, और यह अस्वाभाविक भी है। हिन्दुस्तान

में इस्लाम ने यह गलती की और कितने ही ईसाई भी कर रहे हैं। सूथर महाशय ने कहा—इसे हम लोग हर्गिज़ नहीं पसन्द करते। मैंने कहा—अब छुआछूत पहले सी कहाँ है? जो है वह भी कितने दिनों की मेहमान है? क्या हिन्दुस्तानी नाम हिन्दुस्तानी वेष हिन्दुस्तानी संस्कृति और हिन्दुस्तानी भाषा को रखते हुए कोई सच्चा ईसाई नहीं बन सकता? मैं यह मानता हूँ कि अधिकांश अमेरिकन पादरी इस को पसन्द नहीं करते। उन्होंने कहा—मैं अपनी इस यात्रा में भारत में अपने मिशन वालों से मिलते वक्त इसकी अवश्य चर्चा करूँगा। मैंने कहा इसी तरह यदि भारतीय मुसलमान भी चाहते तो कभी यह फूट न होती। लेकिन समय दूर नहीं है, जब ये गलतियाँ दुरुस्त हो जायेंगी। भारत का भविष्य उज्ज्वल है।

§ ३. कन्नौज और सांकाश्य

१७ दिसम्बर को हम फर्दापुर से जलगाँव के लिए बैलगाडी पर पाडुर तक १० मील आये, फिर २४ मील जलगाँव तक बस में। जलगाँव में मैं तो उसी दिन साँची के लिए रवाना हो गया, किन्तु सूथर साहब ने दूसरे दिन आने का निश्चय किया। सवेरे मैं साँची पहुँच कर उसे देखने गया। कभी ख्याल आता था कि यही वह स्थान है जहाँ अशोक के पुत्र महेन्द्र सिंहल में धर्म-प्रचारार्थ हमेशा के लिए प्रस्थान करने से पूर्व कितने ही समय तक रहे थे। यही स्थान है, जहाँ बुद्ध का शुद्धतम धर्म (स्थविर-

वाद) मगध छोड़ शताब्दियों तक रहा। उसी समय तथागत के दो प्रधान शिष्यों महान् सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की शरीर-अस्थियाँ यहाँ विशाल सुन्दर स्तूपों में रक्खी गई थीं, जो अब लन्दन के म्यूज़ियम की शोभा बढ़ा रही हैं।

साँची के स्तूपों को गद्गद हो देखा। भोपाल राज्य के पुरातत्वविभाग के सुन्दर प्रबन्ध को भी देख कर अत्यन्त सन्तोष हुआ। लौट कर स्टेशन आया तब सूथर साहब भी आ गये थे, इसलिए एक बार उन्हें दिखाने के लिए भी जाना पड़ा।

१९ से २६ तारीख़ तक कोंच में अपने एक पुराने मित्र के यहाँ रहना हुआ। दशार्णों[1] का देश सूखा होने पर भी कितना मधुर है!

अब मुझे शिवरात्रि से पूर्व मध्यदेश[2] के बुद्ध के चरणों से परिपूत कितने ही प्रधान स्थानों को देख लेना था। २७ दिसम्बर से मैंने फिर बाबा रामउदार की काली कमली पहनी, एक छोटा सा झोला और आनन्द की सिंहल पहुँचाई बाल्टी साथ ली। २७ को कन्नौज पहुँच गया। बे-घर को घर की क्या फ़िक्र? इक्के

[१. दशार्ण पूरवी मालवे का पुराना नाम है। अब भी वह धसान कहलाता है।]

[२. कुरुक्षेत्र से बिहार तक का प्रान्त प्राचीन काल में मध्यदेश कहलाता था। नेपाली उसे अब भी मधेस कहते हैं।]

वाले से कहा, शहर से बहुत दूर न हो ऐसी बगीची में पहुँचा दो। एक छोटी सी बगीची मिल भी गई। पुजारी जी ने अकिंचन साधु को उस के लायक ही स्थान बतला दिया। खुली जगह थी, दो वर्ष बाद जाड़े से भेंट हुई थी, इसलिए मधुर तो नहीं लगा।

कन्नौज ? नया कन्नौज तो अब भी बिना गुलाब का छिड़काव किये ही सुगन्धित हो रहा है। लेकिन मैं तो मुर्दों का भक्त ठहरा। २८ को थोड़ा जलपान कर चला टीलों की खाक छानने। ऐसे तो सारा ही देश असह्य दरिद्रता से पीडित हो रहा है, लेकिन प्राचीन नगरों का तो इस में और भी अभाग्य है। शताब्दियों से उन का पतन आरम्भ हुआ, अब भी नहीं मालूम होता कहाँ तक गिरना है। विशेष कर श्रमजीवियों की दशा अकथनीय है। मैंने चमारों के यहाँ जा कर एक जान कार आदमी को साथ लिया। एक दिन के लिए चार आना उस ने काफ़ी समझा।

कन्नौज क्या एक दिन मे देखने लायक है ? और उस का भी पूरा वर्णन क्या इस लेख में लिखना शक्य है, जिस का मुख्य सम्बन्ध एक दूसरे ही सुदीर्घ वर्णन से है ? मै अजयपाल, रौज़ा, टीला मुहल्ला, जामा मस्जिद (=सीता रसोई), बड़ा पीर, क्षेमकलादेवी, मखदूम जहानिया, कालेश्वर महादेव, फूलमती देवी, मकरन्द नगर तक ही पहुँच सका। हर जगह पुरानी टूटी-फूटी चीज़ों की अधिकता, अर्ध-सत्य कहावतों की भरमार, पुरातन सुन्दर किन्तु अधिकतर खंडित मूर्तियाँ, इतिहास प्रसिद्ध भव्य

कान्यकुब्ज की क्षीण छाया प्रदर्शित कर रही थीं। फूलमती देवी के तो आगे-पीछे बुद्ध प्रतिमायें ही अधिक दिखलाई देती हैं।

आदमी को चार आने पैसे दिये, उसने अपने पड़ोसियों से कुछ पुराने पैसे[१] दिलवाये, उसके लिए भी उन्हें दाम मिला। वहाँ से मैं इक्के के ठहरने की जगह गया। किन्तु मेरे अभाग्य से वहाँ कोई न था। पास में कुछ मुसलमान भद्रजन बैठे थे। उन्होंने देखते ही कहा--आइए शाह साहेब, कहाँ से तशरीफ़ लाये? मैंने कहा—भाई, दुनिया की खाक छानने वालों से क्या यह सवाल भी करना होता है?

"जुमा की नमाज़ क्या जामा मस्जिद में अदा की? पान खाइए।"

"शुक्रिया है, पान खाने की आदत नहीं। फर्रुखाबाद जाना है।"

उन्हें मेरी काली लम्बी अल्फ़ी देख कर ही यह भ्रम हुआ। भ्रम क्यों? हिन्दू भी तो नास्तिक ही कहते। किसी तरह और सवाल का मौका न दे कर वहाँ से चम्पत हुआ। स्टेशन के पास फतेहगढ़ के लिए लॉरियाँ खड़ी मिलीं। बसों और रेल की यहाँ बड़ी लाग-डाँट है। रेल को घाटा भी हो रहा है। अस्तु, पाँच बजे के करीब हम ने कन्नौज से विदाई ली।

---

१. पुराने पैसे कन्नौज के पुराने टीलों पर बरसात के दिनों में बहुत मिला करते हैं।

रास्ते में पुनीत पंचाल[1] के हरे खेत, आमों के बगीचे, देहाती हाट, फटी धोतियाँ, कृश शरीर, नटखट और भविष्य की आशा ग्रामीण विद्यार्थी-समूह को देखते ठीक समय पर फर्रुखाबाद पहुँचा। वहाँ से फतेहगढ़ को गाड़ी बदली, उसी दिन मोटा स्टेशन पहुँच गया।

रात को खुली हवा में मोटा स्टेशन पर ही सर्दी की बहार लूटी। सबेरे संकिसा-बसन्तपुर का रास्ता लिया। काली नदी की नाव ने २९ दिसम्बर को पहले-पहल मुझे ही उतारा। खेतों में भूलते-भटकते पूछते-पाछते तीन मील दूरी तय कर बिसारी देवी के पास पहुँच गया। देखा भारत के भव्य भूत की जीवन्त मूर्ति सम्राट् अशोक के अमानवीय स्तूपों में से एक के शिखर-हस्ती के पास ही कुछ क्षीण-काय मलिन-वेष भारत-सन्तानें धूप सेंक रही हैं। पुष्कर गिरि बेचारे ने परिचित की भाँति स्वागत किया। मुँह आदि धोने के बाद प्राचीन अशोक स्तूप को दखल करने वाली परिचय-रहित बिसारी देवी का दर्शन किया। पुष्कर गिरि ने भोजन बनाने की तैयारी आरम्भ की, और मैं गढ़ संकिसा की ओर चला। पांचालों के पुराने महानगर सांकाश्य का ध्वंस भी वैसा ही महान् है। गाँव में अधिकांश मकान पुरानी ईंटों के ही बने हुए हैं। कहते हैं, दूर तक कुआँ खोदते वक्त कभी कभी लकड़ी के तख्ते मिलते

[१. कन्नौज-फ़र्रुखाबाद का इलाका प्राचीन दक्षिण पंचाल देश है; उस के उत्तर रुहेलखंड उत्तर पंचाल।]

हैं। क्यों न हो, क़िले महल फ़र्श सभी किसी समय लकड़ी के तख़्तों के ही तो होते थे। संकिसा फर्रुखाबाद जिले में है। इसके पास ही सराय-अगहत एटा में है, जहाँ अब भी कितने ही जैन (सरावगी) परिवार वास करते हैं। कितने ही दिन हुए वहाँ भी मूर्त्तियाँ निकली थीं। संकिसा पुराने नगर के ऊँचे भीटे पर वसा हुआ है। पुष्कर गिरि के हाथ का वनाया सुमधुर भोजन ग्रहण कर उसी दिन शाम को तीन जिलों का चक्कर लगा कर मैं मोटा (मैनपुरी जिला) पहुँचा।

§ ४. कौशाम्बी

अब मेरा इरादा कुरुकुल दीप की अन्तिम शिखा वत्सराज उदयन[१] की राजधानी कौशाम्बी देखने का था। मोटा से भरवारी का टिकट लिया। शिकोहाबाद में रात की ट्रेन कुछ देर से मिलती है। सवेरे भरवारी[२] पहुँच गया। उतरते ही हाथ-मुँह धो पहले पेट-पूजा करनी शुरू की। मैंने पभोसा जा कर कौशाम्बी आने का निश्चय किया। मालूम हुआ, करारी तक सड़क

[१. कौशाम्बी का राजा उदयन भगवान् बुद्ध के समय में था। उज्जैन के राजा प्रद्योत ने उसे कैद कर लिया था; उसी कैद में उस का प्रद्योत की बेटी वासवदत्ता से प्रेम हो गया, और तब युवक-युवती एक षड्यन्त्र कर भाग निकले थे।]

[२. इलाहाबाद से २४ मील पच्छिम रेलवे-स्टेशन।]

है। यहाँ तक को इक्का मिलेगा, उसके बाद पैदल जाना होगा। इक्का किया। खाते ही सवार हुआ। तेज इक्के को कच्ची सड़क पर भी ९ मील जाने में कितनी देर लगती है? करागी में जा कर मैंने किसी आदमी को साथ लेने का विचार किया। गाँव में अधिकतर मुसलमान निवास करते हैं। बहुत कहने-सुनने से दो मुसलमान लड़के चलने को तैयार हुए। मैंने उन के लिए भी अमरूद खरीद दिये। गाँव से बाहर निकलते ही एक मध्यवयस्क पतली-दुबली मूर्त्ति जिस के चेहरे से ही मुहब्बत टपक रही थी, मिली। ये इस गाँव के पुराने मुसलमान अमीर खानदानों में से थे। देखते ही बोले—

"शाह साहब, इस वक्त कहाँ तशरीफ ले जा रहे हैं? आज मेरे गरीबखाने पर तशरीफ रखिए।"

"भई, आज पभोसा पहुँचना है।"

"फकीरों को आजकल में क्या फरक? आज मेरे गरीबखाने को पाक कीजिए। हम बद-किस्मतों को कहाँ ऐसी हस्तियाँ नसीब होती हैं?"

जान-बूझ कर तमप्-प्रत्यय नहीं बोल रहे थे। ऐसे प्रेम के बन्धनों से छूटना बहुत मुश्किल है ही, बड़ी मुश्किल से वहाँ से जान बचा पाये। अभी उन के गाँव के खेतों में ही थे। तब तक एक लड़का पाखाने का बहाना कर नौ-दो-ग्यारह हुआ। दूसरे को भी मैंने इधर-उधर झाँकते देखा। कुछ पैसे दे लौटा दिया। बेचारों

ने लौट कर शाह साहब की तारीफ का पुल जरूर बाँध दिया होगा।

करारी से पभोसा पाँच कोस बतलाते हैं। दिसम्बर का दिन था, एक से अधिक बज चुका था, रास्ता भी अनदेखा, इसलिए जल्दी जल्दी कदम रखना ही अच्छा मालूम हो रहा था। खेत वैसे चारों ओर हरे-भरे थे, तो भी ताज़ी वर्षा ने उन की शोभा और बढ़ा दी थी। आगे बबूल के दरख्तों के नीचे इनी-गिनी भेड़-बकरियाँ लिये कुछ कुमार-कुमारियाँ उन्हें चरा रहे थे। यद्यपि एक एक अंगुल बोई भूमि में भेड़ों के चरने का युग चला गया है, तो भी वे शताब्दियों पुराने गीत कान में अँगुली लगा कर आज भी गा रहे थे। मैं खेतों में रास्ता भूल गया था, इसलिए रास्ता पूछने के लिए उन के पास जाना पड़ा। वहाँ एक और साथी कुछ दूर आगे जाने वाला मिल गया। उसका मकान गंगा की नहर के किनारे बसे आगे के बड़े गाँव में था। गरीब मालिक के लिए गाँजा खरीदने गया था। हम को तो उस गाँव से कोई काम न था, आज ही पभोसा पहुँचना था। उसने कहा, यदि मालिक ने छुट्टी दे दी तो मैं आप को पभोसा तक पहुँचा दूँगा। आगे नहर पर मैंने थोड़ी देर इन्तिज़ार किया। फिर जान लिया कि मालिक की मर्ज़ी न हुई होगी। मैंने रास्ता पूछा और यह भी कि रास्ते में कहीं कोई पंडित है। मुझे नहर की पटरी पर ही एक पंडितजी का घर बतला दिया गया। जल्दी जल्दी में वहाँ पहुँचा अब दिन बहुत नहीं रह गया था। पभोसा पहुँचने का लोभ अब भी दिल

से न हटा था। पंडितजी के बारे में पूछा। वे घर में थे, निकल आये। पीछे एक अपरिचित गरीब साधु को देख कर उन के चित्त में भी वही हुआ जो एक अभागे देश के साधन-हीन गृहस्थ के हृदय में हो सकता है। उन्होंने आगे एक बहुत सुन्दर टिकाव बतलाया। मेरी भी तो अन्तरात्मा पभोसा मे थी। आगे चल कर नहर छोड़नी पड़ी। रास्ता खेतों में से हो कर था। भूलने पर कहीं कहीं ऊख के कोल्हू के पास जाना पड़ता था। जाते जाते नालों के आरम्भ होने से पूर्व ही सूर्य ने अपनी लाल किरणों को भी हटा लिया। अब रास्ता कुछ अधिक स्पष्ट था, तो भी पोरसों[1] नीचे, पोरसों ऊपर आने वाले रास्ते में, जिस में जहाँ-तहाँ और रास्ते आते-जाते दिखाई पड़ते थे, रास्ते का क्या विश्वास था ? जल्दी कोई गाँव भी नहीं आता था। ख़याल था, यह तो यमुना के उत्तर वत्सों[2] का समतल देश है। परन्तु यहाँ वो चेदियों[3] की-सी ऊबड़-खाबड़, अनेक नालों से परिपूर्ण भूमि है। आख़िर पानी की यमुना ही तो इसे चेदि बनाने में रुकावट डालती है। अब भी

---

१. पोरसा एक पुरुष की ऊँचाई या गहराई चार हाथ। बिहार में यह बोल-चाल का शब्द है।

२. वत्स देश=प्रयाग के चौगिर्द का प्राचीन प्रदेश जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी।

३. चेदि देश=बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, छत्तीसगढ़। वत्स और चेदि सटे हुए हैं, बीच में केवल जमना है।

आगे बढ़ता जा रहा था, तो भी धीरे धीरे आशा ने साथ छोड़ना आरम्भ किया। दूर भी कहीं कोई चिराग् टिमटिमाता नहीं दिखाई पड़ता था। उसी समय एक तालाब का बाँध दिखलाई पड़ा। पहले पीपल के दरख्त के नीचे गया। पीछे पास में एक छोटा सा शून्य देवालय दिखाई पड़ा। विचार किया, इतनी रात को अपरिचित गाँव में ऐसी सूरत से जाने की अपेक्षा यहीं शून्य देवालय में विहार करना अच्छा है। बाहर चबूतरा बहुत पुराना हो जाने से बिगड़ गया था। बिजली की मशाल से देखा टूटी-फूटी अनेक मूर्त्तियों से जटित यह छोटी मढ़ी दिखाई पड़ी। मैंने रात वहीं बिताने का निश्चय कर लिया। आगे बढ़ने का विचार अभी चित्त से बिदा ही हुआ था कि कुछ दूर पर आदमियों की बात सुनाई दी।

बरगद के पेड़ के नीचे वहाँ दो गाड़ियाँ खड़ी देखीं। मालूम हुआ, कुछ जैन-परिवार दर्शन करने के लिए इन्हीं गाड़ियों पर आये हैं, जो पास ही धर्मशाला में ठहरे हुए हैं। पभोसा पहुँच गये सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई। धर्मशाला के कुएँ से पानी भर लाया और गाड़ीवानों के बगल में आसन लगा दिया। बेचारों ने धूनी भी लगा दी। सवेरे गाँव से हो कर यमुना स्नान को गया। गाँव में कुछ ब्राह्मण-देवालय भी दिखाई पड़े। स्नान से लौट कर पहले विचार हुआ, पहाड़ देखना चाहिए, जिस के लिए इतनी दूर की खाक छानी थी। जब एक पाली-सूत्र में कौशाम्बी के घोषि-

ताराम[1] से आनन्द[2] का 'देवकूट सोब्भ' को एक छोटे पर्वत के पास जाना पड़ा था, तब सन्देह हुआ था कि यमुना के उत्तर पहाड़ कहाँ। लेकिन आयुष्मान् आनन्द जब इन सभी तीर्थों को घूम कर सिंहल पहुँचे, तब वह सन्देह जाता रहा। इस एकान्त पहाड़ी के दो भाग हैं, उत्तर वाला बड़ा पहाड़ कहा जाता है, जिस के निचले भाग में पद्म-प्रभु का मन्दिर है। जैन गृहस्थों ने कहा, साथ चले तो दरवाजा खोल कर दर्शन होगा। मैं थोड़ा आगे गया। पहाड़ी की ऊपरी चटानों पर कितनी ही पुरानी छोटी छोटी मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। बहुत सी दुर्गम भागों पर हैं। ये मूर्तियाँ अधिकतर जैनी मालूम होती हैं। इस से मालूम होता है सहस्रों वर्ष तक कौशाम्बी के समृद्धि-काल में यहाँ जैन-साधुजन रहा करते थे। उस समय कौशाम्बी के धनकुबेर यहाँ कितनी ही बार धर्म-श्रवण करने आया करते थे। थोड़ी देर में जैन गृहस्थ भी आ गये। उन्हों ने स्वयं भी दर्शन किया। मुझे भी बड़े आदर से तीर्थंकर की प्रतिमाओं का दर्शन कराया। बाहर उस समय दो-चार बूँदें पड़ रही थीं। चौड़े गच किये हुए खुले आँगन पर कहीं कहीं पीली बूँद सी कोई चीज निकली हुई थी। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से कहा—यहाँ अतीत काल में केशर बरसा करता था। तब लोग सच्चे थे, अब आदमियों के बेईमान हो जाने से यही केसर की-सी चीज

---

१. बुद्ध के समय कौशाम्बी में इस नाम का एक विहार था।

२. भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य।

निकलती है। मैंने सोचा अतीत की स्मृति कितनी मधुर है। भारत का यही तो एक सबसे पुराना जीवित धर्म है, जो अविच्छिन्न रूप से चला आता है। बौद्ध यदि होते तो बराबरी का दावा करते। शंकर, रामानुज, सभी तो इन के सामने कल के हैं। ढाई हज़ार वर्ष हो गये, कौशाम्बी जन-शून्य गृहशून्य हो गई, भूमि ने कितने ही मालिक बदले, परन्तु इनके लिए केसर की वर्षा की बात पूरी सच्ची है। उन्होंने भोजन करने का निमन्त्रण दिया। कौन उस गाँव में उसे अस्वीकार करता, यदि वह सत्कार बिना भी मिलता? वहाँ से मैं पहाड़ की परिक्रमा करने निकला। फिर ऊपर गया। वहाँ पुराने स्तूप का ध्वंस है। एक छोटा सा नया स्तूप बना हुआ है। वहाँ से पास में एक और कलिन्द-नन्दिनी की मन्द नीली धार देखी, जिस के उस पार अभिमानी शिशुपाल का देश[1] फैला है। प्रद्योत ने उधर ही दूर के किसी जंगल में हाथी के शौकीन उदयन को पकड़ा होगा[2]। लेकिन वत्स तब भी स्वतन्त्र रहा, कौशाम्बी स्वतन्त्र वैभव-सम्पन्न कौशाम्बी वर्षों तक यमुना के उस ओर टकटकी लगाये देखती रही। अन्त में उसने एक द्रुतगामिनी हथिनी पर कुरुओं की अन्तिम दीपशिखा को अकेले ही

---

१. [चेदि।]

२. [देखिये पृ० १५ की टिप्पणी १। उदयन को हाथी पकड़ने का शौक था, वह सीमान्त के जंगल में हाथी पकड़ने गया था, तभी प्रद्योत के छिपे सैनिकों ने उसे पकड़ लिया था।]

नहीं, प्रचड अवन्तिराज की त्रिभुवन सुन्दरी कन्या वासवदत्ता के साथ लौटा दिया। किन्तु आज की कौशाम्बी के क्या आशा है जब कि उस के बच्चे उस की क्षीण स्मृति के भुला चुके हैं!

'बड़ा पहाड़' से उतर कर दक्षिण वाले 'भुँडिया' पर चढ़े। इसके ऊपर भी भूमि समतल है, बड़ी बड़ी ईंटों का स्तूपावशेष है। यमुना इस की जड़ से बह रही है। आज यह पहाड़ सूखा है, किन्तु ढाई सहस्र वर्ष पूर्व यहाँ कोई स्वाभाविक जलाशय रहा होगा, जो देव-कट-सोब्भ कहा जाता था।

लौटने पर भोजन में अभी थोड़ी देर मालूम हुई। फिर रात-वाली मढ़ी की ओर गया। मालूम हुआ, 'प्रभास-क्षेत्र'[1] के ब्राह्मणों ने तालाब का नाम 'देवकुंड' और मढ़ी को 'अनन्दी' महारानी का पुनीत नाम दे रक्खा है। एक परिमाणाधिक शिर, मध्य में जैन ध्यानी मूर्ति, और नीचे दूसरी किसी मूर्ति का खड बस "अनन्दी माई" बन गई। पूछने पर तरुण ब्राह्मण ने अपने को "मलइयाँ पाँड़े" बतलाया।

"क्या यहाँ भी मलइयाँ पाँड़े!"[2]

युवक ने कारण बताया। कैसे किसी समय संकृति-वशी किसी सरवार, मलाँव के ब्राह्मण तरुण ने विवाह-सम्बन्ध द्वारा ऊँचा बनने की इच्छा वाले किसी दूसरे ब्राह्मण के फेर मे पड़ कर

१. [सरावगी=श्रावक जैन=उपासक।]

२. [ग्रन्थ के लेखक खुद मलइयाँ पाँड़े हैं। उनके पुरखा गोरखपुर ज़िले के मलाँव गाँव में रहते थे।]

हमेशा के लिए जन्मभूमि को छोड़ दिया। उस ने चलते चलते जैन मन्दिर जाने तथा जैन की पकाई रोटी खाने के बारे में भी अपनी टिप्पणी कर दी। सकिसा की भाँति यहाँ के लोग 'सरौका'[1] को न-पानी-चलने वाला नहीं कहते।

प्रेम और श्रद्धापूर्वक दी हुई मधुर रसोई, उसपर चौबीस घंटे का कड़ाका, फिर वह अमृत से एक जौ भी कैसे नीचे रह सकती है? वे लोग भी कौशाम्बी जाना चाहते थे, किन्तु उन्हें नाव से जाने का प्रबन्ध करना था। साथ में बच्चे और स्त्रियाँ भी पर्याप्त संख्या में थीं, उनको हमारी नजर से देखना भी न था। इसलिए मैं भोजन के बाद अकेले ही चल पड़ा। सिंहवल एक कोस पर है। उससे आगे पाली। पाली में पुरानी ईंटों के बने हुए घर देखने में आते हैं। पाली से थोड़ी ही दूर आगे कोसम[2] है। बस्ती में अधिकतर पुरानी मुसलमानी लखौरी ईंटों के बने मकान बतलाते हैं कि कौशाम्बी मुसलमानों के हाथों आते ही एक दम ध्वस्त नहीं कर दी गई।

कोसम से प्रायः आध कोस पर गढ़वा है। यही पुरानी कौशाम्बी का गढ़ है। यह यमुना के तट पर है। दूर तक इस के दुर्ग-प्राकार आज भी छोटी पहाड़ियों से दिखाई पड़ते हैं। इसी के बीच में एक ऊँची जगह जैन-मन्दिर है। मन्दिर के पास ही

---

१. [पभोसा का पुराना नाम।]

२ [कोसम नाम स्पष्टतः कौशाम्बी का अपभ्रंश है।]

एक अति सुन्दर खंडित पद्म-प्रभु की प्रतिमा है। जैन-मन्दिर की उत्तर ओर थोड़ी दूर पर विशाल अशोक-स्तम्भ है। यह किस स्थान को सूचित कर रहा है, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता। घोषिताराम, बदरिकाराम आदि बौद्ध-संघ को दिये गये तीनों ही आराम तो शहर से बाहर थे। सम्भव है, यह उस स्थान को सूचित करता है, जहाँ पर उदयन को रानी बुद्ध की एक श्रद्धालु उपासिका श्यामावती सखियों के सहित अपनी सौत मागन्दी-द्वारा जलवा दी गई थी। श्यामावती बुद्ध के ८० प्रसिद्ध शिष्य-शिष्याओं में है। जलते वक़ उस का धैर्य भी अपूर्व बतलाया गया है। वह महल में जली थी, इसलिए सम्भव है कि यहाँ ही राजकुल रहा हो।

कन्नौज की भाँति कोशाम में रास्ता पूछते वक़ एक मुसलमान सज्जन ने अपने मकान ले जाने का बहुत आग्रह किया था। न मानने पर गढ़वा देख कर आने के लिए जोर दिया। यद्यपि उन्होंने 'शाहसाहब' नहीं कहा, तो भी मालूम होता है, उनको भी मुझ में मुसलमानीपन दीख पड़ा था। यही भ्रम एक और मुसलमान ने उसी शाम को सरायआकिल के करीब कुछ दूर पर बकरियों को पत्ता खिलाते हुए, सलामलेकुम् कह कर प्रदर्शित किया था। अँधेरा हो जाने पर सरायआकिल पहुँचा। पक्के कुएँ के पास ही धर्मशाला है, जिस के पास ही मन्दिर के अधिक साफ़ होने से वहीं रात बितानी चाही। मन्दिर में आसन लगा कर आरती के बाद ठाकुर जी को दण्डवत् करने न जाना मेरा बड़ा भारी अपराध था।

पुजारीजी ने नास्तिक कह ही डाला। लेकिन उस की चोट लगे, ऐसा दिल ही कहाँ? इस प्रकार आकिल की सराय में सन् १९२८ समाप्त हो गया।

पहली जनवरी को बस पर चढ़ मनौरी आया। बस में इलाहाबाद को जाने वाले दफ़्तर के बाबू भी थे। इस बार एक हिन्दू बाबू ने भी मुसलमान होने का सन्देह किया। ख़ैर! उन के साथी ने नहीं माना; और यही अन्तिम सन्देह था। इस सन्देह की भी बड़ी मौज रही। मैं हैरान होता था, सिवा १५-२० दिन के बढ़े हुए बाल के और क्या बात देखते हैं, जो लोग मुझे मुसलमान बनाते हैं? पर उन्हें मालूम नहीं था कि मैं राम-खुदाई दोनों से योजनों दूर हूँ।

§ ५ सारनाथ, राजगृह

प्रयाग में कोई काम नहीं था। यदि कोई मित्र होता तो दाल-रोटी मिल गई होती, लेकिन अब होटलों के युग में इस के लिए तरसने का काम नहीं। उसी दिन छोटी लाइन से बनारस में उतरे बिना ही सारनाथ पहुँच गया। भिक्षु श्रीनिवास सो गये थे। ख़ैर जागे, और सोने को जगह मिली।

बनारस में अपनी टीका-सहित पूर्ण किये हुए 'अभिधर्मकोश'[1] को छपाने तथा यदि हो सके तो उससे तिब्बत के खर्चे

---

1. [अभिधर्मकोश पेशावर के बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का प्राचीन ग्रन्थ है। राहुल जी ने उस का सम्पादन किया है।]

का प्रबन्ध करना था। पुस्तक साथ न रहने से उस समय कुछ नहीं हो सकता था। केवल तथागत के धर्मचक्र-प्रवर्तन के इस पुनीत ऋषिपतन[1] का दर्शन कर पाया। ऋषिपतन का भी अब पहले का क्या रहा? तो भी उतना शून्य नहीं है और उसका भविष्य उज्ज्वल है।

शिवरात्रि १२ मार्च को पड़नेवाली थी। अभी दो महीने और हाथ में थे। इसमें ४ से ७ तक छपरा में बिता कर पटना पहुँचा, ९ को ही पटना से बख्तियारपुर में गाड़ी बदल कर राज-गिरि पहुँच गया। कौंडिन्य बाबा की धर्मशाला घर सी ही थी। दो बजे के करीब वेणुवन, सप्तपर्णी-गुहा, पिप्पली-गुहा, वैभार, तपोदा[2] को देखने चला। जिस वेणुवन को तथागत ने संघ के लिए पहला आराम[3] पाया था, जिसमें कितनी ही बार महीनों तक रहकर अनेक धर्म-उपदेश किये थे, आज उसका पता लगाना भी मुश्किल है। वेणुवन की भूमि से होकर नदी के पार

---

१. [बौद्ध वाङ्मय में सारनाथ-बनारस को ऋषिपत्तन कहा जाता है। वहीं बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया, अर्थात् अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया था।]

२. [बौद्ध वाङ्मय में राजगृह के इन सब स्थानों का उल्लेख है।]

३. आराम माने बगीचा, विहार। बुद्ध को अपने संघ के लिए उस समय की सब बड़ी नगरियों में आराम दान में मिल गये थे, राजगृह में वेणुवनाराम उन में पहला था।

हो महंत बाबा की कुटी में गया। मालूम हुआ, आठ-नौ वर्ष पहले के बाबा अब इस संसार में नहीं हैं। वहाँ से वैभार के किनारे तक बहुत दूर तक सप्तपर्णी की खोज में गया। फिर वैभार पर चढ़, उतरते हुए पत्थर से बिना गारे की जोड़ी पिप्पली-गुहा को देखा। महाकश्यप[1] का यही कितने दिनों तक प्रिय स्थान रहा। थोड़ा और उतर तपोदा-सप्तऋषियों के गर्म कुंड-पर पहुँच गया। लौट कर दूसरे दिन गृध्रकूट[2] जाने का निश्चय हुआ।

स्वामी प्रेमानंद जी साथी मिल गये। उन्होंने पराठे और तरकारी का पाथेय तैयार किया और श्रीकौडिन्य स्थविर का नौकर मार्ग-प्रदर्शक बना। गृध्रकूट ४ मील से कम न होगा। पुराने नगर में से होते हुए आगे जंगल में सुमागधा के सूखे घाट से हम आगे बढ़े। यही भूमि किसी समय लाखों आदमियों से पूर्ण थी और आज जंगल! यही सुमागधा कभी राजगृह और आस-पास के अनेक ग्रामों के तृप्त करने की महान् जलराशि थी, और अब वर्षा में भी जल-रिक्त! गृध्रकूट पर तथागत की सेवा में जाने के लिए जिस राजमार्ग को मगध-साम्राज्य के शिला-स्थापक बिम्बिसार ने बनवाया था वह अब भी काम लायक़ है।

---

१. [महाकाश्यप बुद्ध के एक प्रधान शिष्य थे।]

२. [राजगृह के पास गृध्रकूट नाम का एक विहार बुद्ध के समय बहुत ही प्रसिद्ध था।]

चलते चलते गृध्रकूट पहुँचे। मनुष्यों के चिह्न सब लुप्तप्राय थे, किन्तु जिन चट्टानों पर पीले कपड़े पहने तथागत को देख कर पुत्र के बन्दी[1] बिम्बिसार का हृदय आशा और सन्तोष से भर जाता था उनके लिए हजार वर्ष कुछ घण्टे ही हैं। दर्शन के बाद वहीं पराठे खाये गये, और फिर दोपहर तक हम कौंडिन्य बाबा की धर्मशाला में रहे।

उसी दिन १० जनवरी को सिलाव[2] चला आया। जिनसे कुछ काम लेना था वे तो न मिले, किन्तु मौखरियों[3] का गयशाली का भात-चिउड़ा और ग्वाजा तो छोड़ना नहीं होता। सिलाव ब्रह्मजाल सुत्त[4] के उपदेश के स्थान अम्बलट्ठिका तथा महाकाश्यप के प्रव्रज्या-स्थान बहुपुत्रक चैत्य में से कोई एक है। बाबू भगवान-

---

१. [पाली बौद्ध वाङ्मय में लिखा है कि अजात शत्रु ने अपने पिता राजा बिम्बिसार को कैद किया और मार डाला था; पर आधुनिक विद्वान् अब इस बात को सच नहीं मानते।]

२. [नालन्दा के पास एक आधुनिक गाँव। वहाँ के चिउड़े की बिहारी लोग बहुत तारीफ करते हैं।]

३. [गुप्त सम्राटों के बाद मध्यदेश में मौखरि वंश के सम्राट् हुए। हर्षवर्धन को बहन राज्यश्री एक मौखरि राजा को ही ब्याही थी। मौखरियों की एक छोटी शाखा बिहार में भी राज्य करती रही। सिलाव गाँव में अब भी कई 'मोहरी' परिवार हैं।]

४. [बुद्ध के उपदेश किये हुए सूक्तों में से एक का नाम।]

दास मौखरी के हाते में एक ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी का नया शिलालेख भी देखने को मिला। दूसरे दिन उस की कापी लेने और खाने में ही दोपहर हो गया। फिर वहाँ से अपनी स्वप्न की भूमि[1] नालन्दा के लिये रवाना हुआ।

दो वर्ष के बाद फिर भव्य नालंदा की चिता देखने आया—उसी नालंदा की जिस के पण्डितों के रौंदे हुए मार्ग को पार करने के लिए मैंने अपनेको तैयार किया है। इच्छा थी, नालंदा में थोड़ी सी, भविष्य में कुटिया बनाने के लिए भूमि ले लें। लेकिन इतनी जल्दी में वह काम कहाँ हो सकता था? भीतर-बाहर परिक्रमा कर के निकली हुई मूर्तियाँ, मुद्रायें, बर्तन, कोठरियाँ, द्वार, कुएँ, पनाले, स्तूप देखे, एक ठंडी आह भरी और चल दिया।

उसी दिन ११ जनवरी को पटना पहुँच गया। अभिधर्मकोश का पार्सल पहुँच गया था, इसलिए उसके प्रबन्ध में १३ जनवरी को फिर बनारस पहुँचा। डेरा हिन्दूविश्वविद्यालय में डाला। प्रकाशक महोदय ने स्वयं पुस्तक देखी, फिर दूसरे विद्वान् के पास दिखाने को ले गये। उन्होंने मूल फ्रेंच[2] से कारिकाओं को मिला-

---

१. [ग्रन्थकार का यह स्वप्न-संकल्प है कि नालन्दा में फिर से एक बौद्ध विद्यापीठ स्थापित किया जाय।

२. बेल्जियम के विद्वान् लुई द वाली पूसाँ ने अभिधर्मकोश का फ्रेंच में सम्पादन किया है। राहुलजी का नागरी सम्पादन उसी पर आश्रित है।

कर कुछ राय देने के लिए कहा। अठारह तारीख को सारनाथ जाने पर चीनी भिक्षु बोधिधर्म की चिट्ठी मिली। दो वर्ष पूर्व मेरी उनसे राजगृह के जंगल में मुलाकात हुई थी। पीछे सिंहल में विद्यालंकार-विहार में ही जहाँ मैं रहता था वे भी महीनों रहे। हद से अधिक शान्त थे, इसलिए अपरिचित मनुष्य उन्हें पागल कहने से भी न चूकते थे। देखने से भी उस गर्दन-झुके, मलिन अकृत्रिम शरीर को देख कर किसी को अनुमान भी नहीं हो सकता था कि वह अन्दर से सुसंस्कृत होगा। सिंहल से लौट कर उन्होंने मेरे लिखने पर अपनी नेपाल-यात्रा के सम्बन्ध में विस्तार-पूर्वक लिखा था। चीनी-भाषा में बौद्धदर्शन के वे पण्डित ही न थे, बल्कि उस के अनुसार चलने की भरपूर कोशिश भी करते थे। उन्होंने हम लोगों के भविष्य के कार्य पर ही उस पत्र में लिखा था। मुझे यह न मालूम था कि वही उन का अन्तिम पत्र होगा।

२० जनवरी को पण्डित महोदय की अनुकूल सम्मति मिली। दूसरे दिन प्रकाशक महोदय से बातचीत होने पर मालूम हुआ कि दस-पाँच प्रतियाँ देने के अतिरिक्त और कुछ पारितोषिक देने में वे असमर्थ हैं। मुझे अपनी यात्रा के लिए कुछ धन की अत्यन्त आवश्यकता थी, इसलिए उन की बात स्वीकार करने में असमर्थ था। इस प्रकार इस बार का नौ दिन काशी-वास निष्फल ही होता, यदि आचार्य नरेन्द्रदेव ने पुस्तक के कुछ अंशों को देखा न होता। उन्होंने उस को काशी विद्यापीठ की ओर से प्रकाशित कराने की बात कही। २२ को प्रकाशन समिति की स्वीकृति भी

आ गई और सब से बड़ी बात थी सौ रुपये के देने की स्वीकृति भी।

§ ६. वैशाली, लुम्बिनी।

मैं अन्य झंझटों से मुक्त था ही। पटना हो कर पहले बुद्धगया गया। वहीं मुझे मंगोलिया के भिक्षु लोब्-सङ्-शी-रब मिले। मैंने भोटिया भाषा की एक-आध पुस्तकें देख ली थी, इसलिए एक-आध शब्द बोल लेता था। उन्होंने बड़े आग्रह से चाय बनाकर पिलाई। मुझे उनसे उनके ल्हासा के डेपुङ् मठ में रहने की बात भी मालूम हुई। उन्हें अभी एक-दो मास और यहीं रहना था। वे महाबोधि के लिए एक लाख दंडवत प्रणाम पूरा करना चाहते थे। उस समय मुझे कभी न भान हुआ था कि उन की यह मुलाकात आगे मेरे बड़े काम की सिद्ध होगी।

बुद्धगया से लिच्छवियों की वैशाली[1] को देखना था। मुज़फ़्फ़रपुर उतरने से मालूम हुआ कि वैशाली के पास बखरा तक बस जाती है। जनक बाबू[2] ने बौद्ध धर्म पर एक व्याख्यान देने के लिए भी दिन नियत करवा लिया। मैं रास्ते में बखरा के

---

१. [प्राचीन मिथिला में लिच्छवि नाम की प्रसिद्ध जाति रहती थी, जिन की पंचायती राज्य की राजधानी वैशाली को मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले का बसाढ़ गाँव सूचित करता है।]

२ मुज़फ़्फ़रपुर के कांग्रेस-कार्यकर्त्ता बाबू जनकधारी प्रसाद। महात्मा गांधी की चम्पारन जाँच के समय से राष्ट्रीय कार्य करने लगे हैं।

अशोकस्तम्भ को पहले देखने गया, जहाँ किसी समय महावन की कूटागारशाला थी, जिस मे तथागत ने कितनी ही बार वास किया था। जिस स्थान में अनेक विख्यात सुत्त[1] आज भी वर्तमान हैं, जहाँ[2] तथागत के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद आनन्द के शिष्य स्थविर सर्वकामी की प्रधानता में भिक्षु-सङ्घ ने दूसरी बार एकत्र हो शङ्काओं का समाधान करते हुए भगवान् की सूक्तियों का गान किया था, उसकी आज यह अवस्था कि आदमी असन्देह हो स्थान को भी नहीं बता सकते।

बखरा से बनिया पहुँचा। वैशाली आज-कल बनिया-बसाढ़ के नाम से ही बोली जाती है। बसाढ़ तो असल वैशाली है, जो वज्जियों[3] की राजधानी थी। बनिया उसी का व्यापारिक मुहल्ला था। यही जैनसूत्रों का 'वाणिय गाम नयर' है। भगवान् महावीर का एक प्रधान गृहस्थ शिष्य आनन्द यही रहता था। भगवान् बुद्ध के ग्यारह प्रधान गृहस्थ शिष्यों में उग्र गृहपति यही रहता था। वज्जियों के महा-शक्ति-शाली प्रजातन्त्र की राजधानी का यह व्यापारिक केन्द्र महासमृद्धिशाली था, यह बौद्ध-जैन-ग्रन्थों से स्पष्ट है। अब यह एक गाँव रह गया है। वहाँ पहुँचते पहुँचते

---

१. [बुद्ध ने कौन कौन सुत्त (सूक्त) कहाँ कहा सो पाली वाङ्मय में दर्ज है।

२. वैशाली की ओर निर्देश है।

३. [लिच्छवि ही वृजि या वज्जि कहलाते थे।]

भोजन का समय हो गया था, इसलिए एक गृहस्थ के भोजन कर लेने के आग्रह को अस्वीकार न कर सका।

चनिया-बसाढ़ के आस-पास मिट्टी की छोटी छोटी पकी मेखलाओं से बँधी हुई कुइँयाँ कहीं भी निकल आ सकती हैं। वहाँ से चल कर बसाढ़ आया। तालाब पर का मन्दिर जिस में अब भी बौद्ध-जैन-मूर्तियाँ हिन्दुओं की देवी-देवताओं के नाम पर पूजी जा रही हैं, रौज़ा, गढ़ और गाँव सभी घूम-फिर देखा। यहीं किसी समय वज्जियों का संस्थागार (प्रजातंत्र-भवन) था, जिस में ७७०७ राजोपाधिधारी लिच्छवि किसी समय बैठ कर मगध और कोशल के राजाओं के हृदय कम्पित करने वाले, सात 'अपरिहाणि धर्मों'[1] से युक्त वज्जी-देश के विशाल प्रजा तंत्र का

१. [मगध के राजा अजातशत्रु ने वज्जियों के संघ-राज्य (प्रजातंत्र राज्य) को जीत लेना चाहा था। उसने बुद्ध से इस बारे में सलाह माँगी। बुद्ध ने कहा (१) जब तक वज्जी अपनी परिषदों में बड़ी संख्या में और बार बार जमा होते हैं, (२) जब तक वे इकट्ठे उठते-बैठते और मिल कर अपने सामूहिक कार्यों को करते हैं, (३) जब तक वे बिना नियम बनाये कोई काम नहीं करते, और अपने बनाये नियम-क़ानून का पालन करते हैं, (४) जब तक वे अपने बुज़ुर्गों की सुनने लायक बात सुनते और उन का आदर करते हैं, (५) जब तक वे अपनी कुलस्त्रियों और कुल-कुमारियों पर ज़ोर-जबरदस्ती नहीं करते, (६) जब तक वे अपने वज्जी-चैत्यों (राष्ट्रीय मन्दिरों) का सम्मान करते हैं, और (७)

सञ्चालन किया करते थे। बसाढ़ और उस के आस-पास अधिक प्रभावशाली जाति के लोग जथरिया (भूमिहार) हैं। आज-कल तो ये लोग सोलहों आने पक्के ब्राह्मण जाति के बने हुए हैं, जिस जाति को भिखमंगों की जाति तथा तीर्थङ्करों के न उत्पन्न होने योग्य जाति जथरियों के पुत्र (ज्ञातृ-पुत्र) वर्द्धमान महावीर ने कहा था[1]। मैं जिस वक्त बसाढ़ के एक वृद्ध जथरिया से कह रहा था कि आप लोग ब्राह्मण नहीं हैं, क्षत्रिय हैं, तब उन्होंने झट नीमसार से आ कर जेथरंढीह (छपरा ज़िला) में बसने वाले अपने पूर्वज ब्राह्मणों की कथा कह सुनाई। बेचारों को समृद्ध, प्रतिभाशाली, वीर, स्वतन्त्र ज्ञातृ-जाति के खून की उतनी परवा न थी, जो अब भी उन के शरीर में दौड़ रहा था, और जिस के लिए आज भी पड़ोसियों की कहावत है—

जब तब वे विद्वान् अर्हतों की शुश्रूषा करते हैं, तबतक वे कभी नहीं हारेंगे चाहे कितनी सेना ले कर उन पर चढ़ाई क्यों न करो। बुद्ध की ये सात शर्तें अपरिहाणि-धर्म अर्थात् क्षीण न होने की शर्तें कहलाती हैं। देखिये भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ३१४-१२।]

१. [भगवान महावीर लिच्छवियों के ज्ञात्रिक कुल में पैदा हुए थे। ज्ञात्रिक का ही रूपान्तर है जथरिया। जथरिया लोग अब भूमिहारों में शामिल हैं। बिहार के भूमिहारों ने जिन्हें वीर लिच्छवि क्षत्रियों के वंशज होने का अभिमान करना चाहिए, अज्ञानवश अपने आप को ब्राह्मण कहना शुरू कर दिया है।]

सब जात में बुबंक जथरिया।
मारै लाठी छीनै चदरिया॥

जितना कि एक अधिकांश धनहीन, बलहीन, विद्याजड़, कूप-मण्डूक, मिथ्याभिमानी जाति में गणना कराने में। वही क्यों, क्या सुशिक्षित देश भक्त मौलाना शफी दाऊदी[1] भी 'शफी जथरिया' के महत्त्व को समझ सकते हैं?

वैशाली से लौट कर मुज़फ्फरपुर आया। एक ज्ञातृ-पुत्र के ही सभापतित्व में बुद्ध-धर्म पर कुछ कहा। फिर एक-दो दिन बाद वहाँ से देवरिया का टिकट कटाया। आज (१४ फरवरी) फिर दो-तीन वर्षों के बाद कुशीनार (कसिया)[2] पहुँचा। दश वर्ष पहले इसी रास्ते पैदल गया था। उस वक्त एक भोले-भाले गृहस्थ ने कहा था, क्या बर्मा वालों के देवता के पास जाते हो? सौभाग्य है, आज लोगों ने अपने को पहचान लिया है। माथा कुँअर में अब की महापरिनिर्वाण-स्तूप को तैयार पाया। प्रतापी कुँअरसिंह

---

१. [खुदीराम बोस वाले भारत के पहले बम-मामले में शफी दाऊदी सरकार की तरफ़ से वकील थे। १९२१ में वे वकालत से असहयोग कर देशभक्त कहलाये। अब 'मुस्लिम अधिकारों' की रक्षा में जुटे हैं। वे भी जथरिया हैं।]

२. [बुद्ध का महापरिनिर्वाण (बुझना=देहान्त) कुशीनारा में हुआ था, जिसे अब गोरखपुर ज़िले की देवरिया तहसील का कसिया गाँव सूचित करता है।]

के सम्बन्धी स्थविर महावीर[1] के धूनी रमाने का ही यह फल है जो आसपास के हज़ारों नरनारी तथागत के अन्तिम-लीला-संवरण-स्थान पर फूल-माला ले बड़ी श्रद्धा से आते हैं।

मूर्ति के सामने बैठे खयाल आया कि २,४१२ वर्ष पूर्व इसी स्थान पर युगल शालों (साखुओं) के बीच में वैशाख की पूर्णिमा के सवेरे, इसी तरह उत्तर को सिर दक्षिण को पैर पश्चिम की ओर मुँह किये, अश्रु-मुख हज़ारों प्राणियों से घिरी वह लोक-ज्योति "सभी बने विगड़नेवाले हैं" कहती हुई हमेशा के लिए बुझ गई।

कुशीनारा में दो-चार दिन विश्राम किया। फिर वहाँ से बस में गोरखपुर गया। शाम की गाड़ी से नौतनवा गया। लुम्बिनी[2] यहाँ से पाँच कोस है। जिस को दुर्गम, दुरारोह हिमालय को सैकड़ों कोस लम्बी घाटियाँ पार करनी हैं उस को यहाँ से टट्टू की क्या जरूरत ? सवेरा होते ही दूकान से कुछ मिठाई पाथेय बाँधा, और रास्ता पूछते हुए चल दिया। रास्ते में शाक्यों और

---

१. [सन् ५७ के गदर में बिहार के जो प्रसिद्ध कुँवरसिंह बड़ी वीरता से लड़े थे, उन के एक सम्बन्धी अंग्रेज़ों की प्रतिहिंसा से बचने को बर्मा भाग गये, वहाँ बौद्ध धर्म का अध्ययन कर भिक्षु बने और फिर बरसों बाद कसिया में आकर रह गये। उन की असलीयत के हाल तक का बहुत कम लोगों को पता था। अब भी इस बात के सच होने में कुछ सन्देह है।]

२. [बुद्ध कपिलवस्तु के पास जिस बगीचे में पैदा हुए थे, उस का नाम।]

कोलियों की सीमा पर बहनेवाली रोहिणी[1] के साथ अनेक नदी-नालों को पार करते, जहाँ भगवान् शाक्य मुनि पैदा हुए उस स्थान पर १७ को पहुँच गया। अब की यह पूरे दस वर्ष बाद आना हुआ था। अब एक छोटी सी धर्मशाला भी बन गई है। कुएँ और मन्दिर की भी मरम्मत हो गई है। उदार नेपाल-नरेश चन्द्र-शम्शेर के सङ्कल्प-स्वरूप कँकरहवा तक के लिए सड़क भी बहुत कुछ तैयार हो गई है। महाराज रुम्मिन देई[2] को फिर लुम्बिनी-वन बना देना चाहते थे, किन्तु यह इच्छा मन की मन ही में ले कर चल बसे। अब न जाने किसे उस पुनीत इच्छा के पूर्ण करने का सौभाग्य प्राप्त होगा ?[3]

२,४९१ वर्ष पूर्व यहीं वैशाख की पूर्णिमा को सिद्धार्थ कुमार पैदा हुए थे। २,१८२ वर्ष पूर्व धर्मविजयी सम्राट अशोक ने स्वयं आ कर यहाँ पूजा की थी। इसी स्थान को देखना मनुष्य जाति के तृतीयांश की मधुर कामना है। कुशीनारा के पूज्य चन्द्रमणि महास्थविर की दी हुई मोमबत्तियों और धूपबत्तियों को उस नीची कोठरी में मैंने जलाया, जिस में लोक गुरु की जननी महा-माया की विनष्ट प्राय मूर्ति अब भी शाल-शाखा को दाहिने हाथ

---

१. बुद्ध शाक्य वंश के थे; उन की माँ पड़ोस के कोलिय वंश की थीं। शाक्यों और कोलियों के देश के बीच सीमा रोहिणी नदी थी।

२. लुम्बिनी के स्थान पर अब रुम्मिनदेई गाँव है।

३. नेपाल सरकार का लुम्बिनी-पुनरुद्धार कार्य जारी है।

से पकड़े खड़ी है। रात को यही विश्राम करने की इच्छा हुई, किंतु दयालु पुजारी ने कहा—इस झाड़ी में रात को चोर रहते हैं, इसलिये यहाँ रहना निरापद नहीं है। मैं अब भी जाने का पूरा निश्चय न कर चुका था कि इतने में ही खुनगाँई के चौधरी जी के लड़के आ गये उन्होंने भी अपने यहाँ रात को विश्राम करने को कहा। उन के साथ चल दिया। लुम्बिनी के यात्रियों के लिए चौधरीजी का घर खुली विश्रामशाला है। उन्होंने अ-हिन्दू अतिथियों के लिए चीनी मिट्टी के प्याले-तश्तरी भी रख छोड़े हैं। मुझे रात को भोजन करने की आवश्यकता न होने से मैं उन के उपयोग से बच गया।

दूसरे दिन चौधरी साहब ने अपनी गाड़ी पर नौगढ़ रोड स्टेशन तक भेजने का प्रबन्ध कर दिया। खुनगाँई से कँकरहव डेढ़-दो कोस से अधिक न होगा। यह नैपाल-सीमा से थोड़ी ही दूर पर है। नौगढ़ से यहाँ तक मोटर और बैलगाड़ी के आने-जाने की सड़क है। जब लुम्बिनी तक सड़क तैयार हो जायगी तब यात्री बड़े सुख-पूर्वक मोटर पर नौगढ़-रोड से लुम्बिनी जा सकेंगे। उसी दिन रात को स्टेशन पर पहुँच गया। अब जेतवन[1] जाना था। गाड़ी उस समय न थी, भूख लगी थी, इसलिए हलवाई के पास गया। वह पूड़ी बनाने लगा। उस की अपनी पान की

---

१. कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती में बुद्ध को जो बगीचा दान मिला था, उस का नाम।

दूकान है। रोज़ों के दिन थे। एक ग्राम-वासी मुसलमान गृहस्थ आ कर बैठ गये। हलवाई ने पान मँगवाया। कहा—

"बहुत तकलीफ़ है, ख़ाँ साहब ?"

"नहीं भाई! इस साल तो जाड़े का दिन है, रात को पेट भर खाने को मिल जाता है। जब कभी गर्मी में रमज़ान पड़ता है तब तकलीफ़ होती है।"

उन की बातें चुपचाप सुनते समय ख़याल हुआ कि इन को कौन एक दूसरे का जानी दुश्मन बनाता है ? क्या इस प्रकार अलग अलग विचार-व्यवहार रखते हुए भी इन दोनों को पैर पसारने के लिए इस भूमि पर काफ़ी जगह नहीं है ? यदि यह काम धर्म का है तो धिक्कार है ऐसे धर्म को।

§ ७ भारत से विदाई

दूसरे दिन (१९ फ़रवरी) नौगढ़ से बलरामपुर पहुँचे। भिक्षु आसया की धर्मशाला में ठहरे। ये ब्रह्मदेशीय धनिक पिता की शिक्षित सन्तान हैं। दस वर्ष पहले जब मैं यहाँ आया था, उस समय वर-सम्बोधि नामक भिक्षु रहते थे। उन्हों ने इस धर्मशाला का आरम्भ किया था। उस समय बहुत थोड़ा ही हिस्सा बन पाया था। अब तो कुएँ और रहने तथा भोजन बनाने के मकानों के अतिरिक्त मंदिर और पुस्तकालय के लिये भी एक अच्छा मकान बन रहा है।

२१ फ़रवरी की अपनी चिट्ठी में मैंने आयुष्मान आनन्द को भवन के बारे में इस प्रकार लिखा—

'कल सवेरे पैदल चल कर बिना कहीं रुके दो ढाई घंटे में यहाँ चला आया। चलने का अभ्यास बढ़ाना ही है। यहाँ महिन्द बाबा की कुटी में ठहरा हूँ। कल पूर्वाह्न में जेतवन घूमा। गंध कुटी, कोसम्ब कुटी, कारेरी कुटी, सललागार में सन्देह नहीं मालूम होता। गंध कुटी के सामने बाहर की ओर निम्न भूमि ही जेत-वन-पोक्खरणी है। महिन्द बाबा की जगह फाहियान वर्णित तैर्थिकों के देवालय की है। महिन्द बाबा आज कल ब्रह्मदेश गये हैं। मुझे तो वे धनुष्कोडी में ही मिले थे। अपराह्न में श्रावस्ती गया। पूर्व-द्वार गङ्गापुर दरवाजा (बडका दरवाजा) हो सकता है किन्तु उस के पास बाहर पूर्वाराम का कोई चिह्न नहीं। हनुमनवाँ ही सम्भवतः पूर्वाराम का ध्वंसावशेष है। कल सूर्यास्त तक श्रावस्ती में घूमते रहे, तो भी चारों ओर नहीं फिर सके।

'आज-कल गोंडा बहराइच के ज़िले में अकाल है। इस देहात के आदमी तो विशेष कर पीड़ित मालूम होते हैं। तालाब सूखे पड़े हैं। वर्षा की फसल हुई ही नहीं। रवी भी पानी के बिना बहुत कम बो सके हैं। इन का कष्ट अगली वर्षा तक रहेगा। जगह जगह सरकार सड़क आदि बनवा रही है, जिस के लिये दो-दो तीन-तीन कोस जा कर लोग काम करते हैं। मर्द को ढाई आना, दूसरों को दो आना रोज़। मक्की चार आना सेर मिल रही हैं। लुम्बिनी के रास्ते में ऐसी तकलीफ नहीं देखने में आई।

'७-८ मार्च तक नेपाल पहुँच जाऊँगा। अन्तिम पत्र चम्पारन ज़िले से लिखूंगा। नेपाल तक एक दो साथी मिलेंगे।

'यात्रा के लिये महाबोधि[1] के तीस चालीस पत्ते बुद्ध-गया के चढ़े कुछ कपड़े कुशीनारा के चढ़े कुछ कपड़े और कुश ले लिये हैं। नेपाल तक सम्भवतः डेढ़ सौ रुपये बच रहेंगे। नेपाल से भी अपने साथी के हाथ एक पत्र दे दूँगा। आगे के लिए क्या प्रबन्ध हुआ, यह उससे मालूम हो सकेगा।

आज अन्धवन (पुरैना, अमहा ताल) देखने का विचार है।'

२२ फ़रवरी की रात को मैंने चम्पारन जाने का रास्ता लिया। सोने के ख़याल से छितौनी घाट तक का ड्योढ़े का टिकट लिया। गाड़ी गोरखपुर में बदलती है। दस बजे के क़रीब छितौनी पहुँचा। गण्डक के पुल के टूट जाने से यहाँ उतर कर बालू में बहुत दूर तक दोनों ओर पैदल चलना पड़ता है। सीधे रेल से रक्सौल जाने वालों के लिए छपरा, मुज़फ़्फ़रपुर हो कर जाना पड़ता है। नाव पर पशुपतिनाथ के यात्रियों को अभी से जाते देखा। लेकिन अब मुझे ख़याल आया कि मैं आठ दिन पहले आया हूँ। अब इन आठ दिनों को कहीं बिताना चाहिए। उस वक़्त नरकटिया-गंज के पास विपिन बाबू का मकान याद आया। मैंने कहा, चलो काम बन गया।

स्टेशन पर मालूम हुआ, शिकारपुर न कह कर उसे दीवानजी का शिकारपुर कहना चाहिए। जाने पर विपिन बाबू तो न मिले, उन के सबसे छोटे भाई घर ही पर मिले। बे-घर को घर

[1] बुद्ध-गया का पीपल वृक्ष।

बड़ी आसानी से मिल ही जाता है। लेकिन अब खयाल हुआ, ये दिन कैसे कटें। इसके लिए मैंने आस-पास के ऐतिहासिक स्थानों को देखने-भालने का निश्चय किया। ये सब बातें मैंने २८ फ़रवरी से ३ मार्च तक के लिखे अपने पत्र में दी हैं। वह पत्र यों है—

शिकारपुर, ज़िला चम्पारन (बिहार)
२८-२-२९

प्रिय आनन्द,

बलरामपुर से पत्र भेज चुका हूँ। इस जिले में तेइस ही तारीख को आ गया। आना चाहिए था तीन मार्च को। इस तरह किसी प्रकार इस समय को बिताना पड़ रहा है। इधर रमपुरवा गया था, जो पिपरिया-गाँव के पास है और जहाँ पास ही पास दो अशोक-स्तम्भ मिले हैं, जिन में से एक पर शिलालेख भी है।

पुरातत्त्व-विभाग की खुदाई के समय एक बैल मिला था, जो एक स्तम्भ के ऊपर था। दूसरे के ऊपर क्या था, इस का कोई ठीक पता नहीं। परम्परा से चला आता है कि एक पर मोर था। मोर मौर्यों का राज-चिन्ह था। साथ ही पास में पिपरिया-गाँव है। क्या पिप्पलीवन[1] को ही तो नहीं यह पिपरिया प्रकट करता

---

[1]. पिप्पलीवन—हिमालय तराई में कोई जगह थी। यहां मोरियों (मौर्यों) का प्रजातन्त्र राज्य था।

है? पिप्पली वनिय-मोरियों ने भी कुसीनारा में भगवान् की धातु[१] में एक भाग पाया था। एक ही जगह दो-दो अशोक-स्तम्भों का होना भी स्थान के महत्त्व को बतलाता है। पिप्पलीवन ही मौर्यों का मूल-स्थान है और वहाँ के लोगों ने बुद्ध का सम्मान भी किया था। ऐसी अवस्था में बुद्ध-भक्तों का अपने पूर्वजों के स्थान के स्मरण में अशोक का यहाँ दो स्तम्भ गाड़ना अर्थ-युक्त मालूम होता है।

पिप्पलीवन जैसी छोटे से गण-तन्त्र की राजधानी कोई बड़ा शहर नहीं हो सकता। अजातशत्रु के समय में ही इस का भी मगध-साम्राज्य में मिल जाना निश्चित है। इस प्रकार ईसा के पूर्व की पाँचवीं शताब्दी के एक छोटे से क़स्बे का जो अधिकतर लकड़ी की इमारतों से बना था, ध्वंसावशेष (जो अब बीस-बाईस फ़ुट, जल-तल से भी कई फ़ुट नीचे है) बहुत स्पष्ट नहीं हो सकता।

मैं रमपुरवा से ठोरी गया, जो वहाँ से ७-८ मील उत्तर नेपाल-राज्य में है; और वहाँ से भी एक मार्ग तिब्बत तक जाने को है। ठोरी से तीन मील दक्षिण महायोगिनी का गढ़ है।

---

१. [बुद्ध के चिताभस्म के फूल या अस्थियाँ धातु कहलाती हैं। परिनिर्वाण के बाद ये आठ हिस्सों में बाँटी गईं थीं। पिप्पलीवन के मोरिय बँटवारे के बाद पहुँचे, इसलिए उन्हें राख से ही सन्तोष करना पड़ा था।]

नीचे की ईंटों से यह प्राक्-मुस्लिम-कालीन मालूम होता है। पुराना मन्दिर पत्थर का बहुत सुदृढ़ बना था। मुसलमानों द्वारा नष्ट होने पर नया बड़ा मन्दिर १००-१५० वर्ष पूर्व बना होगा। यह स्थान तराई के जङ्गल से मिला हुआ है।

यहाँ थारु-जाति का परिचय प्राप्त करने का भी मौका मिला। यह बड़ी विचित्र जाति है। कितने विद्वान् इन्हीं को शोक्य सिद्ध करने का प्रयास कर चुके हैं (१) चेहरा मङ्गोलीय। (२) इधर के थारुओं की मुख्य भाषा गया-जिले की (मगही) भाषा से संपूर्णतः मिलती है। (३) अपने दक्षिण के थारु लोगों को ये बाजी[1] और देश को वजियान कहते हैं। (४) मुर्गी और सूअर दोनों ही खाते हैं, हालाँ कि हिन्दू इधर मुर्गी खाना बहुत बुरा समझते हैं। (५) (चितवनिया थारु अपने को चित्तौड़ गढ़ से आया कहते हैं।) पश्चिम (लुम्बिनी के पास) के थारु अपने को वनवासी हुए अयोध्या के राजा की सन्तान बतलाते हैं।

'कल चानकी-गढ़ जाऊँगा जहाँ मौर्य-काल या प्राक्मौर्य काल का एक गढ़ है। परसों रात की गाड़ी से यहाँ से प्रस्थान करूँगा। नेपाल से पत्र भेजने का कम ही मौका है।

'३-३-२९ आज सायंकाल यहाँ से प्रस्थान करूँगा, कल सवेरे नरकटिया-गंज रेल पर रक्सौल के लिए।

---

१. [अर्थात् वृजि = लिच्छवि।]

"प्रिय आनन्द ! अन्तिम वन्दे करते हुए अब छुट्टी लेता हूँ। 'कार्यं वा साधयेयं, शरीरं वा पातयेयं"—जीवन बहुत ही मूल्यवान् है, और समय पर कुछ भी नहीं है।

तुम्हारा अपना—

रा० सांकृत्यायन

तीन तारीख को मैं शिकारपुर से रक्सौल पहुँचा। वहाँ से नेपाल-सरकार की रेलगाड़ी से उसी दिन वीरगंज पहुँच गया।

दूसरी मंज़िल

नेपाल

§ १. नेपाल-प्रवेश

तीन मार्च १९२९ ई० को सूर्योदय के समय मैं रक्सौल पहुँच गया। छः वर्ष पहले जब मैं इसी रास्ते नेपाल गया था उस समय से अब बहुत फ़र्क पड़ गया है। अब यहाँ से झुण्ड के झुण्ड नरनारियों का पैदल वीरगज की ओर जाना, और वहाँ कतार में हो कर डाक्टर को नब्ज दिखलाना, तथा इस प्रान्त के उच्च अधिकारी से राहदानी लेना आवश्यक नहीं है। रक्सौल के बी० एन० डबलू० आर० के स्टेशन की बगल में ही नेपाल-राज्य-रेलवे का स्टेशन है। लाइन बी० एन० डबलू० आर० से भी छोटी है। यात्री अब सीधे वहाँ पहुँच जाते हैं। राहदानी देने

के लिये कितने ही आदमी खड़े रहते हैं। उस के मिलने में न कोई दिक्कत न देरी। नब्ज दिखलाने की भी कोई आवश्यकता नहीं। दर असल उस की आवश्यकता है भी नहीं, क्योंकि असल नब्ज-परीक्षा तो चीसा पानी, चन्दागढ़ी की चढ़ाइयाँ हैं; जिन पर स्वस्थ आदमी को भी हाँपते-हाँपते पहुँचना पड़ता है।

मेरे यहाँ पहुँचने की तारीख कुछ मित्रों को मालूम थी। पूर्व-विचार के अनुसार यात्रा लम्बी होने वाली थी। वस्तुत: मैं ने अपनी इस यात्रा का प्रोग्राम आठ-दस वर्ष का बनाया था। तिब्बत से चौदह मास बाद ही लौट आने का जरा भी विचार न था। इसी-लिये कुछ मित्रों को विदाई देने की आवश्यकता भी प्रतीत हुई थी। उन में से एक तो गाड़ी से उतरते ही मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन से विदाई ले मैं नेपाली स्टेशन पर पहुँचा। राहदानी तो मैंने ले ली, लेकिन अभी सीधा अमलेखगंज नहीं जाना था। अभी कुछ साथियों और एक विदा करने वाले मित्र की वीरगञ्ज में प्रतीक्षा करनी थी। मैं रेल में बैठ कर वीरगञ्ज पहुँचा। गाड़ियों की कमी से माल के डब्बे भी जोड़ दिये गए थे। मुझे भी मुश्किल से एक माल के डब्बे में जगह मिली।

वस्तुत: रेल-यात्रा से यात्रा का मजा कितना किरकिरा हो जाता है, यह अब को मालूम हुआ। जिस वक्त इञ्जन नेपाल-हिन्दुस्तान की सीमा बनाने वाली छोटी नदी पर पानी ले रहा था, उस समय मैंने कुछ दूर पर इसी नदी के किनारे सड़क पर की उस कुटिया को देखा, जिस में दस वर्ष पूर्व आ कर मैं कुछ दिन

ठहरा था। उस समय तो साधारण आदमी के लिए वीरगञ्ज भी पहुँचना, सिवाय शिवरात्रि के समय के, मुश्किल था। मैं भी उस समय वैशाख मास में राहदानी की अड़चन से ही नहीं जा सका था। उस समय का वह तरुण साधु भी मुझे याद आया, जो रूस के मुल्क की ज्वालामाई से लौटा हुआ अपने को कह रहा था। मैंने उसके किस्से को सुना तो था, किन्तु उस समय इस का विश्वास ही न था कि रूस में भी हिन्दुओं की ज्वाला-माई हैं। यह तो पीछे मालूम हुआ कि बाकू के पास रूसी सीमा के अन्दर दर-असल ज्वाला-माई हैं, और वह उक्त साधु के कथनानुसार बड़ी ज्वाला-माई हैं। रक्सौल से वीरगंज तीन-चार मील ही दूर है। इतनी दूरी को हमारी बग्घी गाड़ी को भी काटने में बहुत देर न लगी।

गाड़ी वीरगञ्ज बाजार के बीच से गई है। सड़क पहले ही से बहुत अधिक चौड़ी न थी, अब तो रेल की पटरी पड़ जाने से और भी सङ्कीर्ण हो गई है। स्टेशन पर उतर कर अब धर्मशाला में जाना था। रेल से ही धर्मशाला का मकान देखा था। आकृति से ही मालूम हो गया था कि यह धर्मशाला है, इसलिए किसी से रास्ता पूछने की आवश्यकता न थी। सीधे धर्मशाला में पहुँचा। दूसरा समय होता तो धर्मशाला में भी जगह मिलना आसान न होता, किन्तु मालूम होता है, जैसे अन्यत्र रेलों ने पुरानी सरायों की चहल-पहल को नष्ट कर दिया, वैसे ही यहाँ शिवरात्रि के यात्रियों की बहार को भी। मुझे एक दो दिन ठहरना था। आज

फागुन सुदी अष्टमी (३ मार्च १९२९) थी। इसलिए अभी नेपाल पहुँचने के लिए काफी दिन थे। एकान्त के लिए मैं ऊपरी तल की एक कोठरी में ठहरा। यह धर्मशाला किसी मारवाड़ी सेठ की बनवाई हुई है। यह पक्की और बहुत कुछ साफ है; पीछे की ओर कुआँ और रसोई बनाने की जगह भी है। दर्वाजे पर ही हलवाई की तथा आटा चावल की दूकानें हैं। आसन रख कर मैंने पहले मुँह-हाथ धोया, और फिर पेट भर पूरियाँ खाईं। थोड़ी ही देर में एक बारात आ पहुँची, और मैंने देखा कि मेरी कोठरी भर गई। असल में हवा और धूप के लोभ से मैंने बड़ी कोठरी लेकर गलती की थी। अन्त में बारात की भीड़ में उस कोठरी में मेरा रहना असम्भव मालूम हुआ, इसलिए दूसरी छोटी कोठरी में चला गया, जिस में बारात के दो-तीन नौकर ठहरे हुए थे। यह अच्छी भी थी।

यह सब हो जाने पर, अब बिना काम बैठे दिन काटना मुश्किल मालूम होने लगा। पास में ऐसी कोई किताब भी न थी, जिस से दिल बहलाव करता; न यहाँ कोई परिचित ही था, जिस से गप-शप करता। खैर, किसी तरह रात आई। आज भी मेरे मित्र के आने की प्रतीक्षा थी। वे न आये। तरह तरह के ख्याल दिल में आ रहे थे। सवेरे उठा तो पास की दालान में किसी के ऊँचे स्वर में बात करने की आवाज मालूम हुई। मथुरा बाबू की आवाज पहचानने में देर न लगी। मालूम हुआ, वह रात में ही आ कर यहीं आसन लगा कर पड़ गये थे। बहुत देर तक बात

होती रही। पिछले दिन मुझे थोड़ा सा ज्वर भी आ गया था, इस-लिये भोजन में स्वाद नहीं आता था। भात का वहाँ प्रबन्ध न था। मथुरा बाबू के परिचित मित्र यहाँ निकल आये, और मेरे लिए भात का प्रबन्ध बराबर के लिए हो गया।

दस बजे के करीब मथुरा बाबू लौट गए। अब मुझे मित्रों की ही प्रतीक्षा करनी थी, जिन्हें नेपाल तक का साथी बनना था। उनके लिए भी बहुत प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। दोपहर के करीब वे भी पहुँच गये। लेकिन और आने वाले साथी उन के साथ न थे। मालूम हुआ, उन में से एक बीमार हो गया, और दूसरों ने यात्रा स्थगित कर दी। मेरे इन मित्र को भी आगे जाना नहीं था। जिसको अकेले यात्रा करने का अभ्यास हो उसके लिए यह कोई उदास होने की बात तो थी ही नहीं। हाँ, मुझे इस का जरूर ख्याल हुआ कि उन्हें छपरा से इतनी दूर आने का कष्ट उठाना पड़ा। लेकिन यह तो अनिवार्य भी था, क्यों कि मेरी यात्रा का सामान और रुपये उन्ही के पास थे।

दोपहर के बादवाली गाड़ी से उन्हें लौट जाना था। मुझे भी अब प्रतीक्षा की आवश्यकता न थी। मैं ने बीरगञ्ज में प्रतीक्षा करने की अपेक्षा उसी गाड़ी पर रक्सौल जाकर लौटना अच्छा समझा। सभी गाड़ियाँ रक्सौल से भरी आती थीं, इससे बीर-गञ्ज में चढ़ने की जगह मिलेगी, इसमे भी सन्देह था। इस प्रकार अपने मित्र के साथ ही एक बार फिर मैं भारत-सीमा में आया, और चिरकाल के लिये वहाँ से विदा ले लौटती गाड़ी से

अमलेखगञ्ज की ओर चला। यात्रा आराम से हुई, लेकिन जो आनन्द पैदल चलने में पहले आया था, वह न रहा। अँधेरा होते होते हमारी गाड़ी जङ्गल में घुस पड़ी। कुछ रात जाते जाते हम अमलेखगञ्ज पहुँच गए।

§ २. काठमाण्डव की यात्रा

अमलेखगञ्ज नई बस्ती है। दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। रेल के आने के साथ ही साथ इस की यह उन्नति हुई है। रेल यहीं समाप्त हो जाती है। आगे, सम्भव है धीरे धीरे रेल भीमफेदी तक पहुँच जाय। आजकल सामान और माल यहाँ से लौरियों पर भीमफेरी जाता है। स्टेशन से उतरने पर ख्याल किया कि किसी लौरीवाले से बात-चीत ठीक कर वहीं सोना चाहिये, जिसमें बहुत सवेरे यहाँ से चल कर भीमफेदी पहुँच जाऊँ, और चोसापानी-गढ़ी ठण्ढे ठण्डे में चढ़ सकूँ। एक बस वाले से बात की, उस ने सवेरे जाने का वचन दिया। उसी बस में सो गया। सवेरे देखा कि लौरियाँ दनादन निकलती जा रही हैं, लेकिन हमारे बसवाले ने अभी चलने का विचार भी नहीं किया है। आखिर मैं थोड़ी देर में ऊब गया। पूछने पर उसने कहा, सवारी तो मिल जाय। उसका कहना वाजिब था। आखिर मैंने खुली माल ढोनेवाली लौरी के मालिक से बात की। किराया भी बहुत सस्ता, एक रुपया। लौरी तय्यार थी। किराया कम होने स यात्रियों के मिलने में देर न लगती थी।

हमारी लौरी चली। हमने समझा था, अब कोई भी भीम-फेदी तक पैदल चलने का नाम न लेता होगा। लेकिन रास्ते में देखा झुण्ड के झुण्ड आदमी चले जा रहे हैं। दरअसल यह सभी लोग अधिक पुण्य के लिये पैदल नहीं जा रहे थे, बल्कि इसका कारण उन की भयानक दरिद्रता है। दूर के तो वही लोग पशुपति की यात्रा करते हैं, जिनके पास रुपया है; परन्तु पास के चम्पारन आदि जिलों के लोग सत्तू ले कर भी चल पड़ते हैं। वह तो मुश्किल से एक आध रुपया जमा कर पाते हैं। उनके लिये तो खुली माल ढोने की लौरी पर चढ़ना भी शौकीनी है। मैं प्रतीक्षा कर रहा था कि अब चुरियाघाटी पर चढ़ना होगा, किन्तु थोड़ी ही देर में हम एक लम्बी सुरङ्ग के मुँह पर पहुँचे। मालूम हुआ, चुरिया पर की चढ़ाई को इस सुरङ्ग ने खतम कर दिया। अब हम तराई के जङ्गल से आगे पहाड़ों में जा रहे थे। हमारे दोनों तरफ जङ्गल से ढँके पहाड़ थे, जिन पर कोई कहीं जङ्गल काट कर नये नये घर बसे हुए थे। कितनी ही जगह जङ्गल साफ करने का काम अब भी जारी था, कितनी ही जगह छोटी छोटी पहाड़ी गायें चरती दिखाई पड़ती थीं। रास्ते में लोग कहीं पशुपति और भैरव के गीत गाते चल रहे थे; कहीं कहीं "एक चार बोलो पसू-पसू-नाथ बाबा की जय", "गुह्मेसरी (—गुह्येश्वरी) माई की जय" हो रही थी। देखा-देखी हमारी लौरी के आदमियों में यह बीमारी फैल गई। और इस प्रकार हमें यह मालूम भी न हुआ कि हम कब भीमफेदी पहुँच गये। सारी यात्रा में तीन घंटे से कम ही वक्त लगा।

भीमफेदी बाजार के पास ही रोप-लाइन का अड्डा है। लौरियों पर अमलेखगञ्ज से माल यहाँ आता है, और यहाँ से तार पर बिजली के जोर से काठमाण्डव पहुँचता है। भीमफेदी में घुसने के पूर्व ही सिपाही पहुँच गये। उन्होंने राहदानी देखी। देखने वालों की संख्या अधिक होने से छुट्टी पाने में देर न लगी। यद्यपि मेरे पास सामान न था, तो भी एक भरिया (=बोझा ढोने वाला) लेना था, जो कि रास्ते में भोजन भी बना कर खिलाता जाय। थोड़ी ही देर में डेढ़ रुपये पर एक भरिया मिल गया। यद्यपि मुझे उस की जाति से काम न था, तो भी कुतूहल वश पूछने पर मालूम हुआ, उसकी जाति लामा है। जैसे अपने यहाँ वैरागी संन्यासी, जो किसी समय गृहस्थ हो गये थे, अब भी अपने को उन्हीं नामों से पुकारते, तथा एक जाति हो गये हैं, वैसे ही पहाड़ में जो बौद्ध भिक्षु कभी गृहस्थ हो गये, उन की सन्तान लामा कही जाती है। लामा, गुरुङ्ग, तमङ्ग आदि जातियाँ नेपाल-दून के पास वाले पहाड़ी प्रदेशों में बसती हैं। इन की भाषा तिब्बती भाषा की ही एक शाखा है, किन्तु गोर्खा के राष्ट्र भाषा होने से सभी इसको बोलते हैं।

भीमफेदी में भोजन कर आदमी को ले आगे बढ़ा। चीसा-पानी की चढ़ाई थोड़ा आगे से शुरू होती है। चढ़ाई शुरू होने की जगह पर ही कुलियों का नाम-ग्राम लिखने वाला रहता है। यह प्रबन्ध इसलिए है, जिसमें कि कुली अनजान आदमी को धोखा दे कर, पहाड़ में कहीं खिसक न जायँ। चीसापानी का रास्ता

अब की उतना कठिन न था। पहले का रास्ता छोड़ कर राज की ओर से अब बहुत अच्छा रास्ता बन गया है। इसमें चढ़ाई क्रमशः है; पहले की भाँति सीधी नहीं। इस प्रकार चीसापानी के आधे गौरव को तो इस नये रास्ते ने ही खतम कर दिया, और यदि कहीं इस पर भी मोटर दौड़ने लगी तो खातमा ही है। रास्ते में कहीं कहीं हमने अपने सिर पर से रोप-लाइन के रस्से पर माल दौड़ते देखा। दोपहर के करीब हम चीसापानी-गाढ़ी के ऊपर पहुँचे। पहरे वालों ने तलाशी लेनी शुरू की, लेकिन मेरे पास सामान बहुत थोड़ा होने से उन्होंने सामान खोलकर देखना भी पसन्द न किया। मैंने तो भिक्षुओं के पीले कपड़ों की मोटरी बाँध कर बहुत गलती की थी। इस सारी यात्रा में उन का कोई काम न था, और दूसरों को उन के देखने मात्र से पूरा सन्देह हो जाने का अवसर था।

भरिया ने कहा मेरा भी ऐसा विचार हुआ कि आज ही चन्द्रागढ़ी को भी पार कर जायँ। पिछली बार भीमफेदी से चल कर जिस भैसादह में रात्रिवास किया था, उसे अब की हम दो-तीन बजे के समय ही पार कर गये। चीसापानी के इस ओर के प्रदेश में जहाँ तहाँ गाँव बहुत हैं, तो भी उतनी हरियाली और जङ्गल नहीं है। चार बजे के करीब चन्द्रागढ़ी के पार करने की प्रतिज्ञा छूटती जान पड़ी, तो भी हिम्मत बाँधे अभी आगे आगे चलता जा रहा था। बहुत रोकने पर भी कुली आगे चला जाता था। उसी समय सारन जिले के दो-तीन परिचित जन मिल गये। उनमें एक की तो अवस्था मुझ से भी खराब थी। खैर, किसी तरह

मर पिट कर हम चितलाङ् पहुँचे। ऐसी यात्रा में दिन रहते ही चट्टी पर पहुँच जाना अच्छा होता है, हम अँधेरा होते होते पहुँचे। उस समय सभी जगहें भर चुकी थीं। सर्दी काफी पड़ रही थी। बड़ी मुश्किल से एक छोटी सी कोठरी मिली। हम पाँचों आदमी उस में दाखिल हुए। उस थकावट में तो सब से मीठा लेटना ही लगता था, किन्तु बिना खाये कल की चढ़ाई पार करना कठिन था। खैर, हमारे साथी पाण्डे जी ने भात बनाया। सब ने भोजन किया; और लेट रहे।

सवेरे तड़के ही चल पड़े। अब मुझे अपने सारन के साथियों से पिण्ड छुड़ाना था। यद्यपि उनका मेरे साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, तो भी उन्हें इतना ही मालूम था, कि मैं भी उन की भाँति पशुपति का दर्शन करने जा रहा हूँ। चन्द्रागढ़ी की चढ़ाई में आप ही वे पीछे पड़ गये; और मुझे आगे बढ़ जाने में कोई कठिनाई न हुई। मैं प्रतीक्षा कर रहा था, अभी चन्द्रागढ़ी की सख्त उतराई आने वाली है। लेकिन आकर देखा, तो यहाँ भी कायापलट, रास्ता बहुत अच्छा बन गया है। नीचे आकर मालपूए के सदाव्रत पर मुझे भी लेने जाने को कहा; और मेरे कुली ने भी जोर दिया। खैर, मैं भी गया। देखा पास में कितने ही महात्मा लोग भी बैठे हुये हैं। गाँजे की चिलम दम पर दम लग रही है। मुझे भी कहा—आओ सन्तजी! मैं बहाना बना, मालपूआ ले, आगे चल पड़ा। थानकोट में केला और दूध मिला। आगे देखा इधर भी लोरियाँ रोपलाइन के स्टेशन से माल ढो रही हैं। मेरे साथी कुली ने पहले ही अपनी गाथा

सुनादी थी कि किस प्रकार पहले जब रोपलाइन न थी, तब हम लोग साल भर भीमफेदी से काठमाण्डव माल ढोने में लगे रहते थे। हजारों परिवारों का इस प्रकार सुख-पूर्वक पालन होता था। लेकिन अब तो रोप-लाइन पर छः आने मन भाड़ा लगता है, किसको पड़ी है जो अठगुना भाड़ा देकर अपने माल को महँगा बनावे। वस्तुतः इन हजारों परिवारों की जीविका-वृत्ति का कोई दूसरा प्रबन्ध किये बिना रोप-लाइन का निकालना बड़ा क्रूर काम हुआ है।

काठमाण्डव शहर में होते हुए दस बजे के करीब हम थापाथली के वैरागीमठ में पहुँचे। यद्यपि पिछली बार हफ्तों तक रहने से महन्त जी परिचित हो गये थे, और उनके जन्म-स्थान छपरा से मेरा सम्बन्ध भी उन्हें मालूम था, पर भीड़ के समय देखे आदमी का परिचय किसको रहता है। तो भी उन्होंने रहने के लिये एक साफ स्थान दे दिया।

§ ३. डुक्पा लामा से भेंट

छः मार्च को मैं नेपाल पहुँच गया था। उस दिन तो मैं कहीं न जा सका। शिवरात्रि के अवसर पर कई दिन तक थापाथली के सभी मठों में साधुओं के लिए भोजन, गाँजा, तम्बाकू, धूनी की लकड़ी महाराज की ओर से मिलती है। साधारण तौर पर भी इन मठों में प्रति दिन की हण्डियाँ बँधी हैं। एक हण्डी से मतलब एक आदमी का भोजन है। इन्हीं हण्डियों और वार्षिक भोज से पैसे
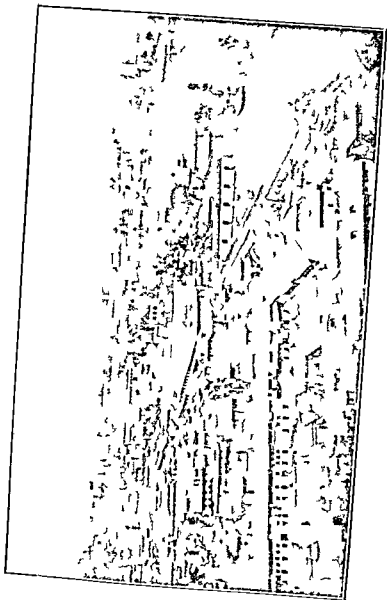
काठमाडू

बचा कर यहाँ के महन्त लोग धनी भी हो गये हैं, यद्यपि यों देखने से ये महन्त लोग बड़े गरीब से मालूम होते हैं। नेपाल के इन के महन्त ही क्या, राजपरिवार को छोड़, सभी लोग अपने धन के अनुसार ठाट-बाट से नहीं रहते। राजा तथा उच्चाधिकारी सर्वज्ञ तो हैं नहीं, और चुगलखोरों की कमी नहीं है, इसीलिए लोगों को आत्म-गोपन कर के रहना पड़ता है। मैंने नेपाल में जिन साहूकारों के घर मामूली से देखे, ल्हासा में उन्हीं की बड़ी बड़ी सजी कोठियाँ लाखों के माल से परिपूर्ण पाईं। अस्तु। महन्त बेचारों की हालत तो और भी बुरी है। वे तो सदा अपने को बारूद के ढेर पर समझते हैं। जिन लोगों से डरते हैं उन्हें भी पूजा देनी पड़ती है, स्वयं भी रुपये बचा कर नेपाल राज्य से बाहर कहीं इन्तजाम करना पड़ता है; जिसमें पदच्युत होने पर आश्रय मिल सके। शिवरात्रि के भोजों के समय राजकर्मचारी भी देख भाल के लिए रहता है, लेकिन इससे प्रबन्ध में कोई मदद नहीं मिलती, उसी का कुछ फायदा हो सकता है। वस्तुतः यह दोष तो उन सभी शासनों में होता है, जहाँ लोक-मत का कोई मूल्य नहीं है, और इसलिए शासक को अधिकतर अपने पार्श्ववर्ती लोगों की बात पर चलना पड़ता है।

दूसरे दिन मैंने विचार किया कि यों ही बैठे रहना ठीक नहीं है। नेपाल से कई दिनों के रास्ते पर भोट की सीमा के पास मुक्तिनाथ और गोसाईं कुण्ड के तीर्थ-स्थान हैं। मालूम हुआ, कहने से वहाँ जाने के लिये आज्ञा मिल सकती है, लेकिन ५

के खर्च और प्रबन्ध से साधु लोग नियत समय पर जाते आते हैं। मैंने इस परतन्त्रता में सफलता कम देखी। इसलिये किसी भोटिया साथी को ढूँढ़ना ही उत्तम समझा। पशुपतिनाथ के मन्दिर से थोडी दूरी पर बोधा स्थान है। इसे नेपाल मे भोट का एक टुकड़ा समझना चाहिए, जैसे कि बनारस में बङ्गाली, मराठे, तिलङ्गे आदि महल्ले हैं। मैंने सोचा वहीं कोई भोटिया साथी मिल सकेगा। ७ मार्च को पशुपति और आगे गुह्येश्वरी का दर्शन करते, नदी पार हो, मैं बोधा गया।

बोधा को भोटिया लोग छोर्तन-रिम्पोछे (चैत्य-रत्न) या बल्-युल-छोर्तन् (नेपालचैत्य) कहते हैं। कहते हैं पहले-पहल इस स्तूप को महाराज अशोक ने बनवाया था। यह बीच में सुनहले शिखरवाला विशाल स्तूप है, जिस की परिक्रमा के चारों ओर घर बसे हुए हैं। इन घरों में अधिकांश भोटिया लोग रहते हैं। विशेष कर जाडे में तो यह एक तरह भोट ही मालूम होता है। अपनी पहली यात्रा में भी मैं यहाँ के प्रधान चीना लामा से मिला था। मैंने सोचा था, उनसे मेरी यात्रा मे कुछ सहायता मिलेगी, लेकिन वहाँ पहुँच कर बड़े अफ़सोस से सुना, कि अब वह इस संसार में नहीं रहे। जिस समय स्तूप की भीतर से प्रदक्षिणा कर रहा था, उस समय मैंने कितने ही भोटिया भिक्षुओं को हाथ के बने पतले कागजों को दाहरा चिपकाते देखा। मैंने अपनी टूटी-फूटी भोटिया में उन का देश पूछा। मालूम हुआ, उन में तिब्बत, भूटान और कुल्लू (काँगड़ा) तक के आदमी हैं। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जब मैंने कुल्लू के दो

बोधा
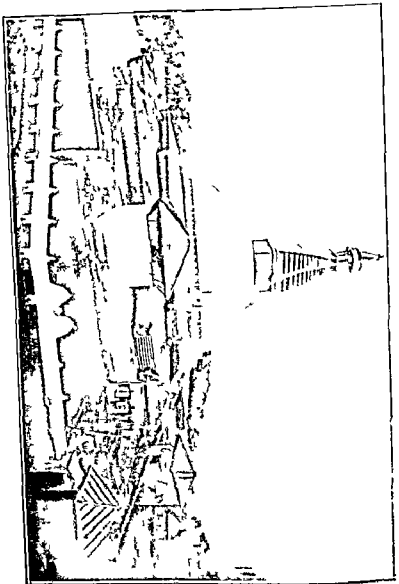
भिक्षुओं को हिन्दी बोलते देखा। उन्होंने बतलाया, हम लोग बड़े लामा के शिष्य हैं, जो प्रायः दो मास से यहाँ विराज रहे हैं, और अभी एक मास और रहेंगे। ये बड़े सिद्ध अवतारी पुरुष हैं। इन का जन्म डुक्पा (=भूटान) देश का है, इसलिए लोग इन्हें डुक्पालामा भी कहते हैं। कोरोङ् (नेपाल की सीमा के पास भोट में) तथा दूसरे स्थानों में इन्होंने बड़े बड़े मन्दिर बनवाये हैं। रात-दिन योग में रहते हैं। हम लोग तीस चालीस भिक्षु-भिक्षुणी उनके शिष्य इस वक्त गुरुजी के साथ हैं। वे वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता (=दोर्जे-चोद्पा) पुस्तक को धर्मार्थ वितरण करने के लिए छपवा रहे हैं। उसी के छापने और कागज तय्यार करने का काम हम लोग कर रहे हैं।

पिछली बार जब मैं लदाख गया था तब के और कुछ पीछे के भी लदाखी बड़े लामों के थोड़े से पत्र मेरे पास थे। उनमें मेरी तारीफ काफी थी, और मेरी यात्रा का उद्देश्य तथा सहायता करने की बात लिखी थी। मैंने उन चिट्ठियों को दिखलाया। उन्होंने परिचय कराने में बड़ी सहायता की। कुल्लूवासी भिक्षु मुझे डुक्पा लामा के पास ले गया। उन्होंने भी पत्रों को पढ़ा। उनमें से एक के लेखक उनके अत्यन्त परिचित तथा एक सम्प्रदाय के बड़े लामा थे। मैंने उन से कहा—बुद्ध-धर्म अपनी जन्म-भूमि से नष्ट हो चुका है; वहाँ उस की पुस्तकें भी नहीं हैं; उन्हीं पुस्तकों के लिए मैं सिंहल गया; कितने ही बड़े बड़े आचार्यों की पुस्तकें वहाँ भी नहीं हैं, लेकिन वे तिब्बत में मौजूद हैं; मैं तिब्बत की किसी

अच्छी गुम्बा (= विहार) में रह कर तिब्बती पुस्तकों को पढ़ना उनका संग्रह करना और इन्हें भारत में ला कर कुछ का संस्कृत या दूसरी भाषा में तर्जुमा करना चाहता हूँ; ऐसा करने से भारत-वासी फिर बौद्ध धर्म से परिचित होंगे; भारत में फिर बौद्ध धर्म का प्रचार होगा, आप मुझे अपने साथ तिब्बत ले चलें।

डुक्पा लामा ने इसे तुरन्त स्वीकार कर लिया, लेकिन उस जल्दी के स्वीकार से मुझे यह भी मालूम हो गया कि वे मेरे जाने को वैसा ही आसान समझते हैं, जैसा दूसरे भोटियों के। मैं शिव-रात्रि को सामान लेकर आ जाने की बात कह वहाँ से फिर थापाथली आया आज की बात से मैंने समझ लिया कि मैदान मार लिया।

आठ मार्च को मैं अपने एक पूर्वपरिचित पाटन के बौद्ध वैद्य को देखने गया। मालूम हुआ, वह भी इस संसार में नहीं हैं। फिर मैंने पाटन के कुछ और सत्कृतज्ञ बौद्धों से मिलना चाहा। दो-चार से मिल कर बड़ी प्रसन्नता हुई। सभी मेरे विचार से सन्तुष्ट थे। कोई ब्राह्मण बौद्ध धर्म की ओर खिंचेगा, यह उनके लिए आश्चर्य की बात थी। तिब्बत जाने के बारे मे उन्होंने भी डुक्पा लामा छोड़ दूसरा उपाय नही बतलाया। उस दिन भोजन मैंने पाटन के एक बौद्ध गृहस्थ के यहाँ किया। पाटन को ललित पट्टन और अशोक-पट्टन भी कहते हैं। नेपाल की पुरानी राज-धानी यही है। निवासी अधिकांश बौद्ध और नेवार हैं। शहर के बीच में पुराने राजमहल अब भी दर्शनीय हैं। जहाँ तहाँ मन्दिरों

और चैत्यों की भरमार है। गलियों में बिछी ईंटें बतला रही हैं कि किसी समय यह शहर अच्छा रहा होगा। लेकिन आज-कल तो गलियाँ बहुत गन्दी रहती हैं। जहाँ-तहाँ पाखाना और सूअर दिखाई पड़ते हैं। शहर में पानी की कल लगी है। पाटन के पुराने भिक्षु-विहार अब भी पुराने नामों से मशहूर हैं, जिनमें इस समय भी लोग रहते हैं। उनमें कितने अब भी अपने को भिक्षु कहते हैं—हाँ, गृहस्थ-भिक्षु। वस्तुतः यह वैसे ही भिक्षु हैं, जैसे घरबारी गोसाईं संन्यासी। विद्या का भी अभाव है। पिछली यात्रा में, जब कि मेरा विचार तिब्बत जाने का नहीं था, पाटन के एक साहूकार ने मुझे तिब्बत ले जाने का प्रस्ताव किया था, किन्तु अब जब कि मैं स्वयं जाने के लिये उत्सुक था, किसी ने कुछ नहीं कहा।

पाटन से लौट कर मैं फिर थापाथली अपने स्थान पर आया। मेरा इरादा उसी दिन उस स्थान को छोड़ देने का था, लेकिन मैंने फिजूल सिंहली-चीवरों की एक बला मोल ली थी। वह न होते तो मुक्त हो विचरता। किसी के उन के देख लेने में भी अच्छा न था। इन चीवरों के लिए मैं बहुत दिनों तक पछताया। और मैं अपनी परिस्थिति के दूसरे पुरुषों को यही कहूँगा कि हरगिज़ इस प्रकार की चीजों को साथ न रखें। मैं उन्हें एक नेवार सज्जन के पास रख छोड़ना चाहता था। उन्हें मैं एक जगह रख कर चीज़ों को लेने गया, लेकिन उस समय मेरे आसन के पास और लोग बैठे थे, और मेरे असबाब उठाने से उन्हें सन्देह हो जाने का डर

था, इस कारण मैं कुछ न कर सका; और उस रात फिर वहीं रहना पड़ा।

नौ मार्च शनिवार को महाशिवरात्रि थी। बड़े तड़के ही मैंने अपना कम्बल, गठरी बहुत यत्न से इस प्रकार बाँधी, जिसमें किसी को मालूम न हो कि मैं क्यों विदाई से पहले ही आसन ले जाता हूँ। मैं पहिले वागमती के किनारे पुल के नीचे से ऊपर की ओर चला, फिर पशुपति की ओर से आनेवाली धार को मुँड़ गया। सूर्योदय के करीब मैं पशुपति पहुँचा। एक तो ऐसे ही माघ-फाल्गुन का महीना, दूसरे नेपाल में सर्दी भी अधिक पड़ती है। लेकिन उस जाड़े में भी श्रद्धालु हजारों की संख्या में नहा रहे थे। अधिकांश स्त्री-पुरुष उत्तरी बिहार के थे, उस के बाद पूर्वी संयुक्त प्रान्त के, वैसे तो कुछ कुछ सभी प्रान्तों से आदमी शिवरात्रि में बाबा पशुपतिनाथ के दर्शन के लिए आते हैं। मुझे आज न नहाने की फुर्सत थी, न बाबा पशुपतिनाथ के दर्शन करने की। पुल और पहाड़ी टेकरी पार कर गुहेश्वरी, और वहाँ से नदी पार हो बोधा पहुँचा।

पशुपतिनाथ
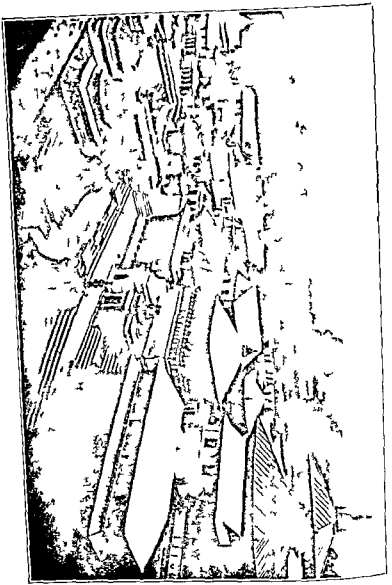
नाश्ते के लिए भात आया। मैंने कहा, जो यहाँ और लोग खाते हैं, वही मैं खाना चाहता हूँ। मुझे इस का अभ्यास भी तो करना है। मैं इस वक्त भी काली अल्फी पहने हुआ था, और यह मेरे लिये खतरनाक थी। मैंने रिछेन् से कहा कहीं से एक भोटिया छुपा (=लम्बा कोट) और एक भोटिया जूता लेना चाहिए। जाड़े के महीनों में इन चीजों का मिलना मुश्किल नहीं है। भोटिया लोग भी खर्च के लिए चीजें बेच दिया करते हैं। बोधा में दूकान करने वाले नेपाली ऐसी चीजें खरीद कर रख छोड़ा करते हैं। मैंने सात-आठ रुपये में एक छुपा लिया। जूता तुरन्त नहीं मिल सका। जूते के न होने पर भी, छुपा पहिनने से ही अब कोई मधेसिया[1] (=मध्य देश का आदमी) तो नहीं कह सकता था। रिछेन् और छरङ् दिन भर पुस्तक छापने में लगे रहते थे, तो भी बीच में आ कर पूछताछ कर जाया करते थे।

छुपा पहन कर दूसरे दिन फिर लामा के पास गया। कुस्पा-लामा का असल नाम गेशे शेरब्-दोर्जे (=अध्यापक प्रज्ञावज्र) है। विद्वान् भिक्षु को भोटिया लोग गे-शे (=अध्यापक) कहते हैं। इनकी अवस्था साठ के करीब थी। खाम्[2] और तिब्बत में बहुत दिनों तक रह इन्होंने भोटिया पुस्तकों को पढ़ा था, वहीं तिब्बत के

---

१. [नेपाली अब भी बिहार-युक्त प्रान्त के लोगों को मधेसिया कहते हैं।]

२. [तिब्बत का उत्तर पूरबी सीमा प्रान्त।]

एक बड़े तान्त्रिक लामा शाक्य-श्री से तान्त्रिक क्रिया सीखी थी। पीछे डुक्पालामा अपने देश भूटान में गये। राजा ने रहने के लिए बड़ा आग्रह किया, लेकिन इन का चित्त वहाँ न लगा। वहाँ से भाग कर काठमाण्डव से उत्तर की ओर सीमा पार भोट देश के केन्रोङ् स्थान में ये बहुत दिनों पूजा और तन्त्र-मन्त्र करते रहे। तिब्बत में और नेपाल में भी, बिना तन्त्र-मन्त्र के कोई सम्मानित नहीं हो सकता। गेशे शेरब्-दोर्जे पढ़े लिखे भी थे, चतुर थे, तन्त्र-मन्त्र रमल फेंकने भूत भाड़ने में भी होशियार थे। आदमियों को कैसे रखना चाहिए यह भी जानते थे, इस प्रकार धीरे धीरे इनके चारों ओर भिक्षु चेले-चेलियों की एक जमात बन गई। इन्होंने धीरे धीरे केरोङ् के अवलोकितेश्वर के पुराने मन्दिर की अच्छी तरह मरम्मत करवा दी। वहाँ भिक्षु-भिक्षुणियों के लिये एक मठ बनवा दिया। केरोङ् और आस पास के इलाके में इनकी बड़ी ख्याति है। केरोङ् के मन्दिर में नेपाल के बौद्धों ने भी मदद की थी। इस प्रकार यह गेशे शेरब्-दोर्जे से डुक्पा लामा हो गये।

डुक्पा लामा की बड़ी बड़ी शक्तियाँ मेरे साथी घुल्लूवाले बयान किया करते थे। मैं भी दूसरे दिन जब जाकर लामा के सामने बैठा, तो देखा वह बात करते करते बीच में आँख मूँद कर निद्रित हो जाते थे। यह मैंने कई बार और दिन में बहुत बार देखा। उस समय इसे निद्रा न समझा। मैंने ख्याल किया, यह जीवन्मुक्त महात्मा बारम्बार इस हमारी बाहरी दुनिया से

भीतर की दुनिया मे चले जाया करते हैं। दो-तीन दिन तक तो मैं हद से अधिक प्रभावित रहा। मैंने समझा, मेरे भाग्य खुल गये। कहाँ मैं कागज बटोरने जा रहा था, और कहाँ रत्नाकर मिल गया। लेकिन मेरे ऐसे शुष्क तर्की की यह अवस्था देर तक नहीं रह सकती थी, पीछे मैंने भी समझ लिया, वस्तुतः वह समाधि नहीं, नींद ही थी। यह लोग रात में भी लेट कर बहुत कम ही सोते हैं, और इस प्रकार बैठे बैठे सोने की आदत पड़ जाती है। उसी वक्त यह भी समझ मे आ गया कि यदि मेरे जैसे पर तीन-चार दिन तक इन का जादू चल सकता है तो दूसरे श्रद्धालुओं पर क्यों नहीं चलेगा। नेपाल के लोग लामा के पास पहुँचा करते थे। बराबर उन के यहाँ भीड़ लगी रहती थी। लोग आ कर दण्डवत् करते, मिश्री-मेवा तथा यथाशक्ति रुपये चढ़ाते थे। कभी कोई अपना दुःख-सुख पूछता, तो वे रमल फेंक कर उसे भी बतला देते थे। बाधा हटाने के लिए कुछ यन्त्र-मन्त्र देते, कभी कोई छोटी-मोटी पूजा भी बतला देते थे।

दो-तीन दिन अलग मकान मे रह कर मैंने सोचा, मुझे भी भोटियों के साथ ही रहना चाहिए, इससे भोटिया सीखने में आसानी होगी। फिर मैं उनके पास ही आ गया। पहले से अब कुछ भोटिया बोलने का अधिक मौका तो मिला, लेकिन उतना नहीं; क्योंकि सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ सूर्योदय से पहले ही उठ कर किताब छापने की जगह पर चली जाती थीं। किताब छापने को कोई प्रेस न था। एक लकड़ी की तख्ती के दोनों ओर किताब के

दो पृष्ठ खुदे हुए थे। तख्ती को ज़मीन पर रख कपड़े से स्याही पोती, और कागज रख कर छोटे से बेलन को ऊपर से चला दिया। डुक्पा लामा कई हजार प्रतियाँ वज्रच्छेदिका की छपवा कर मुफ्त वितरण करवा चुके हैं, और कहते थे, दस हजार प्रतियाँ और छपवा रहे हैं।

यद्यपि मैं अब भोटिया छुपा पहने था, किन्तु अब भी आत्म-विश्वास न था। इस आत्म-विश्वास का अभाव आधे जून तक रहा, यद्यपि अब मैं सोचता हूँ उस की कोई आवश्यकता न थी। मैं समझता था, मैंने कपड़ा पहन लिया है, दो चार भोटिया वाक्य भी बोल सकता हूँ, लेकिन चेहरा मेरा कहाँ से छिपा रह सकता है। अपने साथी रिछेन् का चेहरा भी मैं देखता था, तो वह भी भोटियों से जरा भी मेल न खाता था, तो भी मुझे विश्वास न होता था। इसका कारण दर-असल सुनी सुनाई अतिशयोक्तियाँ और मेरी जैसी परिस्थितवाले भारतीय को इन रास्तों को कैसे पार करना चाहिए—इस ज्ञान का अभाव था। वस्तुतः जब तुमने भोटिया कपड़ा धारण कर लिया, और थोड़ी भाषा भी सीख ली, तो तुम्हें निडर हो जाना चाहिए, दुनिया अपना काम छोड़ कर तुम्हारी देख रेख में नहीं लगी है।

कोई देख न ले इसके लिए नौ से तीस मार्च तक मैं गोया जेल में था। दिन में घर से बाहर निकलने की हिम्मत ही नहीं थी, रात को भी पेशाब-पाखाना छोड़ एकाध ही बार मैं बोधा चैत्य की

परिक्रमा के लिए गया होऊँगा। इस समय बस हैण्डर्सन का तिब्रेतन्-मेनुअल (तिब्बती भाषा की पुस्तक) दोहराया करता था। बीच बीच में शब्दों का प्रयोग भी करता था, लेकिन तिब्बत के प्रदेश प्रदेश में भिन्न भिन्न उच्चारण है। ल्हासा राजधानी होने से उस का उच्चारण सर्वत्र समझा जाता है, लेकिन हैण्डर्सन महाशय की पुस्तक में चाङ (=टशीलुम्पो के पास के प्रदेश) का ही उच्चारण अधिक पाया जाता है। इसके लिए सर चार्लस बेल् की पुस्तक अधिक अच्छी है, जिसमें उच्चारण भी ल्हासा का है।

डुक्पा लामा ने सत्सङ्ग में जब योग-समाधि की बात न कर के मन्त्र तन्त्र की ही बात शुरू की तभी मालूम हो गया, बस, इतना ही है। लेकिन मुझे तो उनके साथ साथ भोट की सीमा के भीतर पहुँच जाने का मतलब था। और इस कारण वे मेरे लिए बड़े योग्य व्यक्ति थे। सप्ताह के बाद ही मैं फिर घबराने लगा, जबकि बनारस के ब्राह्मण पण्डित को खोज खोज कर कितने ही नेपाली मेरे पास पहुँचने लगे। मैं चाहता था शीघ्रातिशीघ्र यहाँ से चल दूँ किन्तु यह मेरे वस की बात न थी। डुक्पा लामा की छपाई पूरी न हुई थी। अभी गर्मी भी न आयी थी कि पिछले वर्ष की तरह एकाध साथी मरणासन्न होते, और गर्मी के डर से लामा को जल्दी करनी पड़ती।

जब लामा ने करुणामय की पूजा की विधि साङ्गोपाङ्ग बतलाना स्वीकार किया, तो रिब्जेन् ने कहा, आप बड़े भाग्यवान् हैं

जो गुरुजी ने इतनी जल्दी इस रहस्य को देना स्वीकार कर लिया। लेकिन उस को क्या मालूम था कि जो आदमी करुणामय (=अवलोकितेश्वर) को ही एक बिल्कुल कल्पित नाम छोड और कुछ नहीं समझता, वह कहाँ तक इस रत्न का मोल समझेगा। कई दिन टालते टालते सत्ताइस मार्च को मालूम हुआ, पुस्तक की छपाई समाप्त होगई। इस समय काठमाण्डव और पाटन के कुछ आदमी मेरे पास उपदेश सुनने आया करते थे। भय तो था ही, कुछ कहने में भी सङ्कोच होता था, क्यों कि मैं तो पुरुषोत्तम बुद्ध का पूजक था, और वे अलौकिक बुद्ध के। जब स बोधा आया, तब से मैंने स्नान नहीं किया था, मैं चाहता ही था पक्का भोटिया बनना। आते ही वक्त कुछ दिनों तक पिस्सुओं ने निद्रा में बाधा डाली, पीछे उतनी तकलीफ न होती थी।

पुस्तक छप जाने पर मुझे बतलाया गया, कि अब गुरु जी स्वयम्भू[1] के पास एकाध दिन बैठ कर यल्मों मे और फिर वहाँ से यावज्जीवन बैठने के लिए लब्-चीकी गुहा में जायँगे। मुझे प्रसन्नता हुई कि यदि नेपाली सीमा से नहीं पार हो सकता तो भोटिया जाति के देश यल्मों में पहुँच जाना भी अच्छा ही है। चैत में अब गर्मी भी मालूम होने लगी, एकाध भोटिया साथियों का सिर भी दर्द करने लगा। अन्त में इकतीस मार्च, रविवार को सायंकाल सब बोधा छोड किन्दू को गये। आज इतने दिनों पर मैं बाहर

---

१ [काठमाडू के पास एक बौद्ध स्तूप।]

निकला था। चोभा से काठमाण्डव के पास पहुँचते पहुँचते ही भोटिया जूते ने पैर काट खाया। इसपर भी मैं उसे नहीं छोड़ना चाहता था, समझता था जूता उतारने पर मेरा भोटियापन कहीं न छूट जाय, यद्यपि मेरे अधिकांश साथी नङ्गे पैर जा रहे थे। जिस समय मैं गलियों में से गुजर रहा था, मैं समझता था सारे लोग मुझे ही मधेसिया समझ कर घूर रहे हैं, यद्यपि काठमाण्डव के लोग चिर-अभ्यस्त होने से भोटियों की ओर जल्दी नजर भी नहीं डालते। नेपाल के गृहस्थ ने और भी कितनी ही बार घर आने के लिये आग्रह किया था, इसलिए आज वहाँ जाना हुआ। उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक एक अप्रैल से दो अप्रैल तक अपने यहाँ मुझे रखा। यह बिचारे बड़े भोले-भाले थे, उन्हें इसमें भी डर नहीं होता था कि चाहे कितना ही मेरा काम और भाव शुद्ध हो, लेकिन मालूम हो जाने पर नेपाल सर्कार मेरे लिए उनको भी तकलीफ पहुँचा सकती है। चौथे दिन की रात को मैं काठमाण्डव छोड़ स्वयम्भू के पास पहुँचा।

§ ४. नेपाल राज्य

नेपाल उपत्यका, जिस में काठमाण्डव, पाटन, भात गाँव के तीन शहर और बहुत से छोटे छोटे गाँव हैं, बड़ी आबाद है। इस उपत्यका का भारत से बहुत पुराना सम्बन्ध है। कहते हैं पाटन, जिस का नाम अशोकपट्टन और ललितपट्टन भी है, महाराज अशोक का बसाया है, और अशोक-काल में यह मौर्य

साम्राज्य के अन्तर्गत था। यही नही, बल्कि नेपाल के अर्ध-ऐतिहासिक ग्रन्थ स्वयम्भूपुराण में सम्राट् अशोक का नेपाल-यात्रा करना भी लिखा है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक वर्तमान बीरगञ्ज से नेपाल का रास्ता ऐसा चालू न था। उस समय भिखना-ठोरी से पोखरा होकर नेपाल का रास्ता था।

भारत और नेपाल का सम्बन्ध कितना ही पुराना क्यों न हो, किन्तु नेपाल उपत्यका की नेवारी (नेपारी=नेपाली) भाषा संस्कृत और संस्कृत के अनगिनत अपभ्रंश शब्दों को ले लेने पर भी आर्यभाषा नहीं है। यह भाषाओं के उसी वंश की है, जिसमें वर्म्मा और तिब्बत की भाषायें शामिल हैं। समय समय पर हजारों आदमी मध्यदेश छोड़ कर यहाँ आ बसे, तो भी मालूम होता है, यह कभी उतनी अधिक संख्या मे नहीं आये, जिसमें कि अपनी भाषा को पृथक् जीवित रख सकते। आज यद्यपि नेवार लोगों के चेहरों पर मङ्गोल मुख-मुद्रा की छाप बहुत अधिक नही है, तो भी इनकी भाषा अपना सम्बन्ध दक्षिण की अपेक्षा उत्तर से अधिक बतलाती है। सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जब कि भारत में सम्राट् हर्षवर्द्धन का शासन था, नेपाल तिब्बत के शासक स्रोङ्-चन-गेम्बो को अपना सम्राट् मानता था। मुसल्मानी काल में भारत से भागे राजवंशों ने भी कभी कभी नेपाल पर शासन किया है।

ऐसे तो नेपाल उपत्यका एक छोटा सा देश है ही, किन्तु सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में राजा यक्षमल ने अपने राज्य को

अपने पुत्रों में बाँट कर नेपाल को बहुत ही कमज़ोर बना दिया। इसी समय से पाटन, काठमाण्डव और भातगाँव में तीन राजा राज करने लगे। उधर इसके पश्चिम और गोर्खा प्रदेश में सीसोदियों का वंश स्वदेश-परित्याग कर धीरे धीरे अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। गोर्खा का दशम राजा पृथ्वीनारायण बहुत मनस्वी था। उसने नेपाल की कमज़ोरी से लाभ उठाना चाहा; और अल्प परिश्रम से २९ दिसम्बर सन् १७६९ ईसवी को काठमाण्डव दखल कर लिया तब से नेपाल पर गोर्खा वंश का शासन आरम्भ हुआ। पहले सहस्राब्दियों से यद्यपि नेपाल पर प्रायः बौद्ध शासकों का ही शासन रहा है, और गोर्खा राजा ब्राह्मण धर्म के मानने वाले हैं, तो भी भारत की तरह यहाँ भी धर्म के नाम पर कभी किसी को कठिनाई में नहीं पड़ना पड़ा।

महाराज पृथ्वीनारायण से महाराज राजेन्द्र विक्रमशाह के समय तक नेपाल का शासन-सूत्र गोर्खा के ठकुरी क्षत्रियों के वंश में रहा; किन्तु १८४६ ई० के १७ सितम्बर की क्रान्ति ने नेपाल में एक नयी शासन-रीति स्थापित की, जो अब तक चली जा रही है। इस क्रान्ति के कारण महाराज जङ्गबहादुर ने राज-शासन की बागडोर अपने हाथ में ली। उन्होंने यद्यपि अपने लिए महामन्त्री का ही पद रखा तो भी इसमें शक नहीं कि १७ सितम्बर सन् १८४६ से पृथ्वीनारायण का वंश सिर्फ नाम का ही अधिराज (महाराजाधिराज) रह गया, और वास्तविक शक्ति महाराज जङ्गबहादुर के राणावंश में चली गयी।

महाराज जङ्गबहादुर ने अपने भाइयों की सहायता से इस क्रान्ति में सफलता पाई थी। इसलिए उत्तराधिकार के बारे में अपने भाइयों का ख्याल उन्हें करना ही था। उन्होंने नियम बना दिया कि महामन्त्री की जिसे तीन सरकार (=श्री ३) और महाराज भी कहते हैं जगह खाली होने पर बाकी बचे भाइयों में सब से बड़े को यह पद मिले। भाइयों की बारी खतम हो जाने पर, दूसरी पीढ़ी वालों में जो सब से जेठा होगा वही अधिकारी होगा। महाराज जङ्गबहादुर के बाद उनके भाई उदीपसिंह तीन सरकार (१८७७–८५ ई०) हुए। उस समय जङ्गबहादुर के पुत्रों ने कुछ षड्यन्त्र रचे, जिनके कारण उन्हें नेपाल छोड़ भारत चला आना पड़ा। महाराजा उदीपसिंह के बाद उनके भतीजे और वर्तमान महाराज के सब से बड़े भाई वीरशमसेर (१८८५-१९०१ ई०) चचा के गोली का निशान बन जाने पर गद्दी पर बैठे। उनके बाद (१९०१ ई० में) महाराज देवशमसेर कुछ महीनों तक ही राज्य कर पाये और वह वहाँ से भारत निकाल दिये गये तब से २५ नवम्बर १९२९ तक नेपाल पर वर्तमान तीन सरकार महाराज भीमशमसेर जङ्गराणावहादुर के बड़े भाई महाराज चन्द्र शमसेर ने शासन किया।

मैं कह चुका हूँ, पृथ्वीनारायण का वंश अब भी नेपाल का अधिराज है, तो भी सारी राज-शक्ति प्रधान मन्त्री के हाथ में है, जिसके बनाने-बिगाड़ने में अधिराज को अधिकार नहीं है। जगह खाली होने पर स्वयं राणा खान्दान का दूसरा ज्येष्ठ व्यक्ति आ

जाता है। प्रधान मन्त्री के नीचे चीफ साहेब (कमाण्डर-इन्-चीफ) फिर लाट साहेब (=फौजी लाट), और पीछे राज्य के चार जनरलों का दर्जा आता है। महाराज जङ्गबहादुर के भ्रातृवंश में उत्पन्न होने वाला हर एक बच्चा नेपाल का प्रधान मन्त्री होने की आशा कर सकता है; लेकिन ऐसे लोगों की संख्या सैकड़ों हो जाने से अब उस आशा का पूर्ण होना उतना आसान नहीं है; और यही भविष्य में चलकर इस पद्धति के विनाश का कारण होगा।

नेपाल का शासन एक प्रकार का फौजी शासन समझना चाहिए। राणा खान्दान (जङ्गबहादुर के खानदान) का बच्चा जन्मते ही जनरल होता है (यद्यपि इस प्रथा को महाराज चन्द्रशमसेर ने बहुत अनुत्साहित किया है)। वह अपनी उम्र और सम्बन्ध के कारण ही राज्य के भिन्न भिन्न दायित्वपूर्ण पदों पर पहुँच सकता है। वह हजारों सैनिकों का "जर्नैल" बन सकता है, चाहे उसे युद्ध विद्या का क-ख भी न आता हो। इस बड़ी आशा के लिए उसे अपनी रहन सहन में वित्त के अनुसार नहीं, बल्कि खान्दान के अनुसार जीवन बसर करना पड़ता है। राज्य को किसी न किसी रूप में एक ऐसे खान्दान के सभी मेम्बरों की पर्वरिश करनी पड़ती है, जिन में अधिकांश अपनी किसी योग्यता या परिश्रम से राज्य को कोई फ़ायदा नहीं पहुँचाते। बहु-विवाह की प्रथा से अभी ही इस खान्दान के पुरुषों की सङ्ख्या दो सौ के करीब पहुँच गयी है, ऐसा ही रहने पर कुछ दिनों में यह

हजारों पर पहुच जायेगी। यद्यपि महाराज चन्द्रशमसेर ने अपने लड़कों की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा, और वैसे ही कुछ और भाइयों ने भी, किन्तु जब इन सैकड़ों खान्दानी "जर्नेलों" पर ध्यान जाता है, तो अवस्था बहुत ही असन्तोषजनक मालूम होती है।

नेपाल की भीतरी भयङ्कर निर्बलता का ज्ञान न होने से बहुत से हिन्दू उस से बड़ी बड़ी आशायें रखते हैं। उनको जानना चाहिए कि नेपाल में प्रजा को उतना भी अधिकार नहीं है जितना भारत में सब से बिगड़े देशी राज्यों की प्रजा को है। इसलिए राष्ट्र की शक्ति का यह स्रोत उसके लिए बन्द है। जिस तीन-सरकार के शासन से कुछ आशा की जा सकती है, उस पद के अधिकारी अधिकांशतः वे हैं, जिनमें उसके लिए उपयुक्त शिक्षा नहीं, और जो अपने राजसी खर्च के कारण बड़ी शोचनीय आर्थिक अवस्था में रहते हैं। मेरा ध्यान एक दो व्यक्तियों पर नहीं है, बल्कि राणा खान्दान के उन सभी पुरुषों पर है, जो जीते रहने पर एक दिन उस पद पर पहुँच सकते हैं। अनियन्त्रित व्यक्तिगत शासन के कारण शासक का जीवन हमेशा खतरे में रहता है। यही हाल नेपाल में भी है। कहावत है, नेपाल की तीन-सरकारी का मूल्य एक गोली है, जितने में महाराज जङ्ग-बहादुर ने इसे खरीदा था। उससे बचने पर वैसे षड्यन्त्रों का भी भय रहता है, जिनके कारण महाराज देवशमसेर कुछ ही मास में देश से बाहर निकाल दिये गये। ऐसी स्थिति में तीन

सरकार के पद पर पहुँच कर कोई भी क्षण भर के लिए निश्चिन्त नहीं बैठ सकता; उसको यह डर बना रहेगा कि कहीं मैं भी किसी कुचक्र में न पड़ जाऊँ। इसलिए उसे पहले अपनी सन्तानों के लिए जितना हो सके उतना धन जमा करना पड़ेगा; उसे भी सुरक्षा के लिए नेपाल से बाहर किसी विदेशी बैंक में रखना होगा, जिसमें ऐसा न हो कि उस के परिवार की सारी सम्पत्ति ज़ब्त हो जाय।

जनवृद्धि के अनुसार ही तीन सरकारी के भुक्खड़ उम्मेदवारों की संख्या बढ़ रही है। ऐसी अवस्था में निश्चय ही अच्छे दिनों की आशा कम होती जा रही है। यदि राणा खान्दान के लड़कों को देश-विदेश में भेज कर भिन्न भिन्न विषयों की उच्च शिक्षा दिलायी जाती, यदि नेपाल विदेशी राज्यों में अपने राजदूत भेजता तो इस में शक नहीं कि बेकार राणा खान्दान वालों को भी काम मिलता, और देश को भी कई तरह से नफ़ा होता। किन्तु आधुनिक सभी पाश्चात्य विलासिताओं को अपना कर भी, यह लोग विद्या-ग्रहण में विदेश-गमन के अनुकूल नहीं हैं; और आगे भी, ढोंगबाजी में एक दूसरे से बाजी लगाने वाले इन लोगों को कब अक़्ल आयगी, कोई नहीं जानता; सम्भव है, उसी वक़्त होश आये, 'जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत'।

नेपाल की वर्तमान अवस्था से यदि किसी को अधिक सन्तोष हो सकता है, तो अङ्ग्रेजों को। वे जानते हैं कि यहाँ की प्रजा

शक्ति-शून्य है, सिंहासनाधिपति अधिराज शक्ति-शून्य है और तीन सरकार अपने खान्दान के दाव पेंचों से ही शक्ति-शून्य है। इसलिए वह चाहे सैनिक-शक्ति-सम्पन्न जनता का देश ही क्यों न हो, उस के नाम के 'जर्नैल' और खुशामद के बल पर होने वाले टके सेर 'कपटेन' और 'कर्नैल' मौका पड़ने पर क्या अपने देश की भी रक्षा कर सकेंगे ? अगर अङ्ग्रेजों ने इस तत्त्व को न समझा होता, तो जिस प्रकार कश्मीर धीरे धीरे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया, वैसे ही नेपाल भी आ गया होता। इन्हीं बातों के कारण अङ्ग्रेजों ने भी आसानी से १९२३ ई० की सन्धि-द्वारा नेपाल को "स्वतन्त्र" राज्य स्वीकार कर लिया, और काठ-माण्डव में रहने वाले रेजिडेण्ट का नाम बदल कर "एनवाय" (=राजदूत) कर दिया।

§ ५. यल्मो ग्राम की यात्रा

किन्दू स्वयम्भू के पास ही है। अभी यहाँ नया विहार बनाया गया है। डुक्पा लामा को यहाँ कुछ दिन रहना था। मैं तीन अप्रैल की रात को वहाँ पहुँचा। लामा ने मुझे भी पास में आसन के लिए जगह दे दी। परन्तु मैं रात को ही समझ गया कि इस जगह पर, जहाँ दिन भर सैकड़ों आदमी आते रहते हैं, मेरा रहना ठीक न होगा। मैंने यह भी सुन लिया कि और भी एक सन्यासी तिब्बत की यात्रा के लिए ठहरे हुए हैं। वे यहाँ आये थे, और उन को मेरी सूचना भी दे दी गयी है। पीछे यह

भी मालूम हुआ कि मेरे उक्त स्थान को' छोड़ने के दूसरे दिन वे वहाँ भी मुझे खोजने के लिए गये थे। उनको तो राज्य से ठहरने की इजाज़त मिल गई थी, और वे राज कर्मचारियों की सङ्गति में रहते भी थे। मैंने सोचा यह बड़ी गल्ती हुई, अगर कहीं ऊपर खबर हुई तो इतने दिन बेकार गये और मैं फिर रक्सौल उतार दिया जाऊँगा।

रात को ही मैंने निश्चय कर लिया कि मैं अलग किसी एकान्त जगह में जाऊँगा। संयोग से मुझे इस काम में मदद देने के लिए एक सज्जन मिल गये। उन्होंने एक खाली मकान में मेरे रहने का प्रबन्ध किया। दिन भर मैं एक कोठरी में पड़ा रहता था, सिर्फ़ रात को पाख़ाने के लिये एक बार बाहर निकलता था। कोठरी का अभ्यास तो मुझे हज़ारीबाग में दो साल के कारावास में काफी हो चुका था; किन्तु यह एकान्तवास उस से कठिन था। हर समय चिन्ता बनी रहती कि कहीं यह रहस्य खुल न जाय। मालूम हुआ, अभी डुक्पा लामा के जाने का कोई विचार ही नहीं हो रहा है। उन्होंने दो-चार ही दिन रहने का ख्याल किया था, किन्तु मालूम हुआ, पूजा यहाँ काफी चढ़ रही है। यहाँ भी धीरे धीरे कुछ लोग आने लगे। फिर तो मैं दूना चिन्तित हो उठा। डुक्पा लामा को यल्मो जाकर कुछ दिन रहना था इसलिए मैंने सोचा कि मुझे वहाँ ही जा कर ठहरना चाहिए।

मेरे अकारण मित्र कोशिश करने पर भी किसी यल्मोवासी को न पा सके। अन्त में निश्चय हुआ कि वही मुझे यल्मो पहुँचा

आँय। ८ अप्रैल को अँधेरा रहते ही हम चल पड़े। स्वयम्भू के दर्शन को न जा सके। स्वयम्भू का दर्शन पहली नेपाल-यात्रा में कर चुका था। यह नेपाल का सर्वश्रेष्ठ बौद्ध तीर्थ है। चन्द्रागढ़ी से भी इस के दोनों जुड़वें मन्दिर, काठमाण्डव से बाहर एक छोटी टेकरी पर, दिखाई पड़ते हैं। वर्तमान मन्दिर और दूसरे मकानों मे कोई भी उतना पुराना नही है, जैसा कि स्वयम्भू-पुराण में बतलाया गया है। तो भी स्थान रमणीय है। कुछ वर्षों पूर्व इसकी भी मरम्मत हो चुकी है। हम स्वयम्भू को परिक्रमा कर नगर से बाहर ही बाहर यल्मो की ओर चले। कुछ देर तक रोप-लाइन के खम्भों के सहारे चले, खम्भों को देख कर फिर हजारों बे रोजगार मजदूर परिवार याद आये। हमारे पास एक छोटी गठरी थी। बेचारे मित्र उसे ले चले, किन्तु उन को भी अभ्यास न था। अङ्ग्रेजी रेजीडेन्सी के नीचे से हम लोग गुजरे। यह जगह शहर से बाहर एक टीले पर है। बहुत दिनों से रहने के कारण बाग बगीचे अच्छे लग गये हैं। हम को थोड़ा ही आगे चलने पर एक आदमी मिला, हमने उसे सुन्दरी जल तक मजदूरी पर चलने को कहा। वह पूछने के बहाने घर गया। थोड़ी देर इन्तजार करने पर मेरे साथी उस का पता लगाने गये। मालूम हुआ वह नहीं जायगा। नाहक में ठण्ढे समय का आधा घण्टा बरबाद किया।

हाँ, मैंने इस समय की अपनी पोशाक की बात नहीं कही। यल्मो तक के लिए मैंने नेपाली पोशाक स्वीकार की। नेपाली
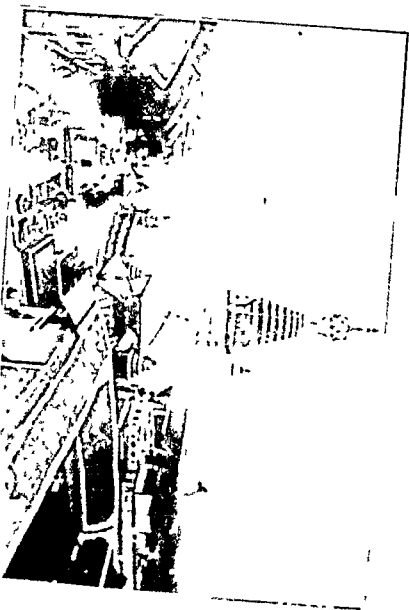
बगलबन्दी, ऊपर से काला कोट, नीचे नेपाली पायजामा, सिर पर नेपाली टोपी, पैर में नेपाली फलाहारी जूता (कपड़े और रबड़ का), आँखों पर काला चश्मा। ऊपर से नेपाली तो बन गया था, लेकिन दिल में चैन कहाँ! वस्तुतः नेपाल में भोटिया पोशाक ही अधिक उपयुक्त है। मालूम हुआ, इस रास्ते पर भी सरकारी पुलिस चौकी है। हमारे भाग्य अच्छे थे, जो उस दिन घुड़दौड़ थी। सिपाही लोग भी घुड़दौड़ देखने काठमाण्डव चले गये थे। दोपहर मेरे साथी ने एक जगह भात बनाया; किन्तु भूख मुझे उतनी न थी। मध्याह्न की धूप से बचने के लिए थोड़ा विश्राम किया, और फिर चल पड़े।

नये जूते ने पैर काट खाये थे; महीने भर की टाँगों की बेकारी ने चलने की शक्ति को बेकार कर दिया था; तो भी उत्साह के बल पर मैं चला जा रहा था। काठमाण्डव से सुन्दरीजल तक मोटर जाने लायक सड़क भी बनी है, किन्तु आजकल एक जगह नदी का पुल टूटा हुआ है। यहाँ मैंने पत्थर के कोयलों से ईंटों को पकाते देखा। वही कोयले, जिन्हें छः वर्ष पूर्व जब मैंने एक राजवंशिक के सामने जला कर दिखाया तो उसे आश्चर्य हुआ था। उस समय लोग इस नर्म कोयले को कुदरती खाद समझते थे, और उस का व्यवहार खेत में डालना भर था। नेपाल की भूमि रत्नगर्भा है, नाना प्रकार की धातुएँ हैं, और उत्तम फलों के लिए यहाँ उपयुक्त भूमि है, परन्तु इधर किसी का ध्यान हो तब न।

चार-पाँच बजे हम सुन्दरीजल पहुँचे। यहाँ से भी नलों द्वारा पानी काठमाण्डव गया है। इस नल के रास्ते को हमने जनरल मोहनशमसेर के महल के पास से ही पकड़ा था। महाराज चन्द्रशमसेर ने अपने सभी लड़कों के लिए अलग अलग महल बनवा दिये हैं। मकान बनवाने का उन्हें बहुत शौक था। अपना महल भी उन्होंने बहुत सुन्दर बनवाया है। कहते हैं, इस पर करोड़ों रुपया खर्च हुआ है। इस महल को तो अपने जीवन में ही वह सभी तीन-सरकारों के लिए नियत कर गये हैं। उन के लड़कों के भी छः अलग अलग महल हैं। इन में जितनी भूमि और रुपयों का खर्च हुआ है, यदि ऐसा ही भविष्य के भी तीन-सरकार करें, तो बीसवीं शताब्दी के अन्त तक काठमाण्डव के चारों ओर का भूभाग तो महलों से भर जायगा, और सारे उपजाऊ सुन्दर खेत उन के पार्कों के रूप में परिणत हो जायँगे। देश के करोड़ों रुपये कला शून्य इन विलायती ढङ्ग की ईंटों के ढेर में चले जायँगे सो अलग।

सुन्दरीजल की चढ़ाई शुरू हो गई। अभी तक तो हम मैदान में जा रहे थे, अब मालूम हुआ, पहाड़ पार करना आसान नहीं होगा। संयोग से ऐन मौके पर एक हट्टा कट्टा तमङ्ग मजदूर मिल गया। उसे चार दिन के लिये नेपाली आठ मोहर (३ रुपये से कुछ ऊपर) पर ठीक किया। साथ ही यह भी ठहरा कि वह मुझे ढोकर ले चलेगा। आदमी बहुत मजबूत और साधारण गोर्खे के कद से लम्बा था। हम सुन्दरीजल के सहारे ऊपर बढ़े। थोड़ी

ही देर में हरियाली से भरे सुहावने जङ्गल में पहुँच गये। हमने नीचे से जाने वाले रास्ते को छोड़ दिया था, क्योंकि उसमें कुछ चौकियाँ पड़ती हैं। यह ऊपर का रास्ता पहाड़ों के डाँड़ों डाँड़ों गया है; यह कठिन तो है, किन्तु निरापद है। लगातार चढ़ाई ही चढ़ते शाम को हम ऊपर एक गाँव में पहुँचे। यहाँ ऊँचाई के कारण ठण्ढक थी। सभी रास्तों पर नेपाल के पहाड़ों पर छोटी छोटी दूकानें हो गयी हैं, जहाँ खाना बनाने का सामान मिल जाया करता है।

मुझे तो दिन भर की थकावट में नींद सब से मीठी मालूम हो रही थी। मेरे साथी को पर्वाह न थी। उन्होंने भोजन तय्यार किया, फिर तीनों आदमियों ने भोजन किया।

सबेरे बड़े तड़के हम लोग रवाना हुए। अब भी चढ़ाई काफी चढ़नी थी। इन ऊपरी भागों में भी कहीं कहीं आबादी थी। जगह-जगह नये जङ्गल साफ हो रहे हैं, और लोग अपनी झोप-ड़ियाँ डाल रहे हैं। नेपाल में जनवृद्धि अधिक हो रही है, इस लिए दार्जिलिङ्ग और आसाम में लाखों नेपालियों के बस जाने पर भी, वर्तमान खेत उन की जीविका के लिए काफी नहीं हैं, और नित्य नये खेतों की आवश्यकता पड़ रही है, जिसके लिए जङ्गल बेदर्दी से काटे जा रहे हैं। जङ्गल का वर्षा से सम्बन्ध है ही; यह तो प्रत्यक्ष है कि जङ्गल कट जाने पर पानी के सोते कई जगह सूख गये या क्षीण हो गये। जङ्गलों की इस कटाई ने कई जगहों पर पहाड़ों को नङ्गा कर दिया है।

अस्तु, हम डाँड़ों से होते दोपहर को डाँड़ों के बीच की रीढ़ पर के एक गाँव मे पहुँचे। सुन्दरीजल के ऊपर से तमङ्गों का देश शुरू होता है। अङ्ग्रेजी गोर्खा फ़ौजों में वीर तमङ्गों की बड़ी खपत है। चेहरे में भोटिया लोगों से अधिक मिलते हैं, भाषा और भी समीप है। धर्म यद्यपि बौद्ध है, तो भी वर्तमान अवस्था देखने से मालूम होता है, कि वह बहुत दिनो तक शायद ही टिके। मेरे साथी तमङ्ग से मालूम हुआ कि मरने पर तो उनके यहाँ लामा आता है, और विजया दशमी के दिन वे पूरे शाक्त होते हैं। इस गाँव में भी एक साधु की टीन से छाई हुई अच्छी कुटी है। कहते हैं, किसी समय बौद्ध तमङ्गों को ब्राह्मण धर्म मे दीक्षित करने के लिए ही यह कुटी बनवायी गयी थी, और यहाँ एक प्रसिद्ध साधु भी रहता था। दूसरे डाँड़े को पार कर अब हम दूसरी ओर से चल रहे थे। रास्ते में अब हमें मानियाँ[1] (=पत्थरों पर मन्त्र लिख कर बनाये स्तूप या लम्बे ढेर) मिलीं; मालूम होता था, चिरकाल से वे उपेक्षित हैं।

रात तो एक झोपड़े मे कटी; सवेरे उतराई शुरू हुई। दो दिन की यात्रा में पैरों मे थोड़ी मजबूती भी आ गयी, और रास्ता भी उतराई का था, इसलिए अब मैं चलने में किसी से पीछे न था।

---

१. [वज्रयान अर्थात् तान्त्रिक बौद्ध धर्म का तिब्बती में प्रसिद्ध मन्त्र है—ओं मणि पद्मे हुं ; उसके कारण जिस चीज़ पर वह लिखा है वह भी मानी हो गई।]

आठ बजे के करीब हम नीचे नदी के तट पर पहुँच गये। नदी पार कर नीचे की ओर जाने पर थोड़ी देर में हम नदी के सङ्गम पर पहुँच गये। यहाँ कुछ दूकानें हैं। खाने के लिए कुछ चीजें ली गयीं और हम फिर चल दिये। दोपहर को छोटे गाँव में पहुँचे। नीचे पूजा के लिए पुराने पीपल और बर्गद के पेड़ हैं। किन्तु सर्दी की प्रतिकूलता से बिचारे उतने प्रसन्न नहीं। यहाँ पहाड़ों के ऊपरी भाग में मालूम हुआ, यल्मो लोग बसते हैं। निचला भाग अपेक्षाकृत गर्म और जङ्गलहीन होने से, उसे ये पसन्द नहीं करते। उन्हे अपनी चँवरी गायों और भेड़ों के लिये जङ्गल की अनिवार्य आवश्यकता है।

जिस घर में हमें भोजन बनाना था, वह खेत्री का था। नेपाल में अब भी मनु के अनुसार अनुलोम असवर्ण विवाह होता है। क्षत्रिय का अपने से नीची जाति की कन्या में उत्पन्न लड़का खेत्री कहा जाता है; कुछ पीढ़ियों बाद वह भी पक्का क्षत्रिय हो जाता है। इसी प्रकार ब्राह्मण का अब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न लड़का जोशी होता है और कुछ पीढ़ियों बाद पूरा ब्राह्मण हो जाता है।

उसी दिन शाम को हम असल यल्मो लोगों के गाँव में पहुँचे। ये लोग भोटिया समझे जाते हैं। भोटिया इनमें खूब समझी जाती है। इनका रङ्ग बहुत साफ गुलाबी होता है, और सुन्दरता भी है, इसीलिये इनकी लड़कियाँ राज-घरानों में लौंडी के काम के लिये बहुत पसन्द की जाती रही हैं। आज पिस्सुओं ने रात

को सोना हराम कर दिया। मालूम हुआ, कल हम पहुँच जायँगे।

दूसरे दिन बड़े तड़के ही उठे। रास्ता चढ़ाई का था। तीन घण्टे में हम घने जङ्गलों में पहुँच गए। यहाँ गेहूँ में अभी दाना नहीं आया था। कहीं कहीं आलू भी बोया हुआ था। दोपहर को हमें भी तरकारी के लिए आलू मिला। भोजनोपरान्त हम लोग चले। पहाड़ की एक फैली बाँह को पार करते ही मानों नाटक का एक पर्दा गिर गया। चारों ओर गगनचुम्बी मनोहर हरे हरे देवदारू के वृक्ष खड़े थे। नीचे की ओर जहाँ तहाँ हरे भरे खेत भी थे। किन्तु कहीं भी प्रकृति देवी अनीलवसना न थी। जगह भी बहुत ठण्ढी थी। ११ अप्रैल को तीन बजे के करीब हम यल्मो के उस गाँव में पहुँच गये। ग्राम-प्रवेश के पूर्व ही पानी के बल से मानी (=कागज पर लिखे मन्त्रों से भरा लकड़ी का घूमता ढोल) चलती दिखाई पड़ी।

§ ६ डुक्पा लामा की खोज

अब जिस गाँव में मैं था वह यल्मो लोगों का था। ये लोग यल्मो नदी के किनारे पहाड़ के ऊपरी भागो में रहते हैं। इनमें पुरुष तो दूसरे नेपालियों जैसे ही पोशाक पहनते हैं, किन्तु स्त्रियों की पोशाक भोटिनियों की सी है। वस्तुतः इन्हें भाषा, भूषा, भोजन आदि से भोटया ही कहना चाहिए यद्यपि दूसरी जातियों के सत्सङ्ग से इनमें भोटियों से अधिक सफाई पाई जाती है ये लोग हाथ मुँह धोना भी पसन्द करते हैं।

यह गाँव बड़ा है। इस में सौ से ऊपर घर हैं। सभी मकानों
। छतें लकड़ी की हैं। पास ही देवदारु का जङ्गल होने से
कड़ी इफरात से है। इसलिए मकान में लकड़ी की भरमार है।
कान अधिकतर दो मञ्जिले तिमञ्जिले हैं। सब से निचली
ञ्जिल में लकड़ी या दूसरा सामान रखते हैं। पशुओं के
धिने की भी यही जगह है। जाड़े के दिनों में यहां बर्फ पड़ा करती
आजकल भी आधे अप्रैल के बाद काफी ठण्ढक है। पहाड़ के
परी भागो में तो मई के पूर्वार्द्ध (वैशाख) तक मैंने कभी कभी
र्फ पड़ते देखा। इन लोगों में बौद्ध धर्म अधिक जागृत है। हर
क घर के पास नाना मन्त्रों की छापा वाले सफेद कपड़ों की
वजायें, पतले देवदारु के स्तम्भों में फहरा रही हैं। मकान,
आदमी, खेत, पशु इत्यादि के देखने से मालूम होता है कि यल्मो
लोग नेपाल की दूसरी जातियों से अधिक सुखी हैं। इनके गाँवों
की मानियाँ सुन्दर अवस्था में हैं। हर एक गाँव में एक दो
गुम्बायें (=विहार, मठ) हैं। लामा भी एकाध रहते हैं।
खेती से भी बढ़ कर इन की सम्पत्ति भेड़ बकरी और चँवरी हैं।
जाड़े के महीने में ही ये इन जानवरों को घर ले आते हैं, अन्यथा
जहाँ सुंदर चरागाह देखते हैं, वहीं एक दो घर के आदमी अपना
ता और डेरा लेकर पशुओं को चराते फिरते हैं। मक्खन मिला
र बनाई हुई चाय और सत्तू इन के भी प्रधान खाद्य हैं।

मैं एक भोटिया (=यल्मो) घर में ठहरा। आते ही मैंने
भोटिया चोगा और जूता पहन लिया। दूसरे दिन मेरे मित्र भी

लौट गये। मालूम हुआ, यहाँ से चार दिन में कुत्ती और चार ही दिन में केरोङ् पहुँचा जा सकता है। दोनों ही स्थान भोट (=तिब्बत) देश मे हैं। यहाँ घूमने फिरने की रुकावट न थी। दिन काटने के लिये तिब्बती पुस्तक की एकाध आवृति रोज करता था। कोई कोई लोग हाथ दिखाने और भविष्य पूछने आते थे। अधिकों को मैं निराश ही किया करता था, यद्यपि भाग्य देखना दवा देना, और मन्त्र-तन्त्र का प्रयोग करना यही तीन इन प्रदेशों में अधिक सम्मान की चीजें हैं।

मेरे यहाँ पहुँचने के तीन दिन बाद डुक्‌पा लामा के शिष्य भिक्षु-भिक्षुणी भी आ गये। अभी भी उन्हे कई हजार पुस्तक छापनी थीं। उन्होने यह भी बतलाया कि बड़े लामा भी जल्द आयेंगे। वे लोग गाँव से थोड़ा हट कर एक बड़ी गुम्बा के भीतर ठहरे। मुझे भी गाँव छोड़ कर वहाँ ही जाना पसन्द हुआ, क्योंकि वहाँ मुझे भाषा सीखने को सहूलियत थी। यहाँ आने पर मुझे बुखार आने लगा था, किन्तु वह दो तीन दिन में ही छूट गया। अब मैं उक्त गुम्बा में आगया सवेरे उठते ही वे लोग तो पुस्तक छापने या दो दो कागजों को चिपका कर एक बनाने लग जाते थे और मैं शौच से फुर्सत पा अपने 'तिबेतन् मेनुअल' के पाठ में। आठ बजे के करीब थुक्‌पा (=लेई) तैयार हो जाता था। सभी तीन-तीन चार-चार प्याले पीते थे। मैं भी अपने लकड़ी के प्याले से थुक्‌पा पीता था। यह थुक्‌पा मकई मँडुए जौ के सत्तू को उबलते पानी में डाल कर पकाने से बनाया जा

था। कभी कभी उस में जङ्गल से कुछ साग ला कर डाल देते थे। ऊपर से थोड़ा नमक पड़ जाता था। दोपहर को उसी तरह गाढ़ा सत्तू पकाया जाता था, साथ ही जङ्गली पत्तों की सब्ज़ी होती थी; शाम को सात बजे फिर वही थुक्पा। अधिकतर मँडुए और मकई का ही सत्तू होता था। मँडुए के सत्तू को ये लोग ग्यगर् चम्पा (=भारतीय सत्तू) कहते थे; मैं इस पर बड़ी टिप्पणी किया करता था।

इस वक्त मेरा घनिष्ठ मित्र (=रोक्पो) एक चार पाँच वर्ष का लड़का तिन्-जिन् (=समाधि) था। यह मुझे भाषा सिखलाया करता था। कभी कभी मेरी भाषा सम्बन्धी गलती भी दूर किया करता था। थोड़े ही दिनों में मैं ग्यगर् चम्पा से ऊब गया। फिर मैंने मक्खन, चावल और जौ का सत्तू मँगा लिया। मेरे खाने में मेरा मास्टर तिन्-जिन् भी शामिल रहता था। उस समय जङ्गली स्ट्राबरी[1] बहुत पक रही थी। मैं रोज चुन चुन कर ले आता था। तिन्-चिन बड़ा खुश होता था। वह डुक्पा लामा की चचेरी बहिन का लड़का था। इस एक मास के साथ रहने में सच मुच ही वह मेरा बड़ा प्रिय मित्र बन गया और चलते वक्त मुझे उसके वियोग का दुःख भी हुआ।

बड़े कुत्तों की नसल यहाँ शुरू होती है। इसलिए यहाँ अब गाँवों में, या चरवाहों के डेरों में, जाना आसान नहीं था। मैं

१. [स्ट्राबरी के लिए कुमाऊँ-गढ़वाल का हिन्दी शब्द हिसालू है।]

गाँव में दो तीन ही बार गया। किन्तु रोज़ एक दो बार पहाड़ के नीचे ऊपर काफी दूर तक टहलने जाया करता था। खेतों में जौ और गेहूँ लहरा रहे थे, किन्तु उन के तैयार होने में अभी एक मास की देर थी। ठण्ढक की वजह से यहाँ मकई और धान नहीं होता; आलू काफी होता है। लेकिन वह हाल में बोया गया था। कभी कभी पुराना आलू और पिछले साल की मूली तर्कारी के लिये मुझे भी मिल जाती थी। बेचारे डुक्पा लामा के चेले भी कुछ दिनों में मकई मँडुए के सत्तू से तङ्ग आगये। एक दिन चार पाँच मील पर के एक गाँव में एक बैल मरने की खबर पा कर गये। लेकिन वहाँ उस का मूल्य छः सात रूपया माँगा गया, और उस में चर्बी भी नहीं थी। लोग यहां यह आशा कर रहे थे, कि आज पेट भर मांस खायेंगे, किन्तु उन के खाली हाथ लौटने पर बड़ी निराशा हुई। पीछे शाम के वक्त उन्होंने किसी किसी दिन मकई भून कर खाना शुरू किया, और कड़वा तेल डाल कर चाय पीना शुरू किया। मक्खन उनके लिये आसान न था, इसलिये उन्होंने तेल का आविष्कार किया था। कहते थे, अच्छा लगता है। मैं तो दोपहर बाद कुछ खाता ही न था। खाने का सामान मँगा लेने से आराम हो गया था।

हमारी गुम्बा से प्रायः एक मील ऊपर की ओर देवदारू के घने जङ्गल में एक कुटी थी, वहाँ एक लामा कितने ही वर्षों से आ कर बैठा था। ऐसे लामा प्रायः बस्ती से बाहर ही रहा करते हैं। उन के एकान्त-वास के वर्ष और दिन भी नियत रहते हैं।

सफ़ेद कुटी देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती था। अपना दिल कई बार ललचाया, कि क्यों न कुछ दिन यहीं रमा जाय। लेकिन फिर ख्याल आया—'आई थी हरिभजन को ओटन लगी कपास' वाली बात नहीं होनी चाहिए। इसी गाँव के ठीक ऊपर की तरफ़ कुछ हट कर, एक खम्पा (खम्=चीन की सीमा पर का भोटिया प्रदेश) लामा कई वर्षों से वास करते थे। एक दिन वे इस गुम्बा में आये। मुझ से भी बात हुई। फिर उन्होंने मुझ से अपने यहाँ आने के लिए आग्रह किया। यहाँ मैं इस गुम्बा का कुछ वर्णन कर दूँ। मैं नीचे के तल में प्रधान देवालय में था। मेरे सामने खून पीती, अँतड़ियाँ चबाती, लाल लाल अङ्गारों की सी आँखों वाली मिट्टी की एक मूर्ति थी। इस मन्दिर में और भी कितने ही देवताओं और लामाओं की मूर्त्तियाँ थीं। मुख्य मूर्त्ति लोबन् रिम्पो-छे या गुरु पद्म सम्भव की थी। यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि इनकी बनावट सुन्दर थी, कला की कोमलता भी थी। छत से कितने ही चित्र लटक रहे थे। गुम्बा के ऊपरी तल में भी कुछ मूर्तियाँ और शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की भोटिया भाषा में बड़ी सुन्दर हस्तलिखित पुस्तकें थीं। कभी यहाँ भिक्षु रहा करते थे; किन्तु पीछे उन के चेलों ने ब्याह कर लिया। अब उन की सन्तान इस गुम्बा की मालिक है। गुम्बा की बगल में थोड़ा खेत भी है। इसी पर ये लोग गुजारा करते हैं। पूजा से कुछ अधिक आमदनी होती होगी, इसकी आशा नहीं मालूम होती।

१२ मई को मैं खम्पा लामा के पास गया। उन्होंने मेरा बहुत स्वागत किया। उनके सादगी के साथ निकले हुए शब्द 'तू भी बुद्ध का चेला, मैं भी बुद्ध का चेला' अब भी स्मरण आते हैं। रात को वहीं रहना हुआ यह लामा न्यूमा (=उपवास) व्रत करते हैं। एक दिन अनियम भोजन के साथ पूजा, दूसरे दिन दोपहर के बाद भोजन न कर के पूजा, और तीसरे दिन निराहार रह कर पूजा—यही न्यूमा है। ऊपर से रोज हजारों दंडवत् भी करने पडते हैं। लोगों का अवलोकितेश्वर के इस व्रत में बहुत विश्वास है। खम्पा लामा के पास कुछ और भी श्रद्धालु स्त्री पुरुष इसी व्रत को करते हैं। यह लामा व्रत के साथ कुछ झाड फूँक भी जानते हैं, फिर ऐसे आदमी को क्या तकलीफ हो सकती है ? रात को मुझे खाना नहीं था। पर मक्खन डाल कर चाय उन्होंने अवश्य पिलाई। बडी देर तक भोट के और भोट के धर्म के बारे में बातचीत होती रही। उन्होंने खम् देश जाने के लिए भी मुझे बहुत कहा।

दूसरे दिन उनका निराहार था, किन्तु मेरे लिए उन्होंने अपने हाथ से चावल और आलू की तरकारी बनाई। भोजन कर मध्यान्ह के उपरान्त मैं अपनी गुम्बा में आ गया। उसी दिन शाम को काठमाण्डव से डुक्पा लामा के बाकी चेले आ गये। उन से मालूम हुआ कि डुक्पा लामा काठमाण्डव से सीधे कुती को रवाना हो गये, वे इधर अब नहीं आयेंगे। डुक्पा लामा अब जीवन भर के लिए भोटिया सिद्ध और कवि जेसुन्-मिला-रेपा के

सिद्ध स्थान लप्ची में बैठने जा रहे थे। इसकी खबर पाते ही शिष्यमण्डली में कितनों ने ही फूट फूट कर रोना शुरू किया। मेरे लिये तो अब विषम समस्या थी। पूछने पर मालूम हुआ कि मेरे बारे में उन्होंने कुछ नहीं कहा। दो महीने तक मैं उन की प्रत्याशा में बैठा रहा, और अब इस तरह का बर्ताव! दर-असल यह चित्त को धक्का लगाने वाली बात थी; लेकिन इतने दिनों में मैं भोटिया स्वभाव से कुछ परिचित हो गया था। मैंने उसी समय निश्चित कर लिया, कल यहाँ से चल दूँगा, और कुती के रास्ते में ही कहीं उन्हें पकड़ूँगा। मुझे एक साथी की तलाश थी। मालूम हुआ आजकल बहुत लोग कुती की ओर नमक लाने जाते हैं। यही साल भर के नमक लाने का समय है। मालूम हुआ दो चार दिन ठहरने पर ही आदमी मिल सकेगा। किन्तु मुझे तो डुक्पा लामा के साथ नेपाल की सीमा को पार करना था।

रात तक किसी आदमी का पबन्ध न हो सका। उसी गुम्बा में रहनेवाला एक नव युवक नमक के लिए कुती जानेवाला था, लेकिन उसे अपना पका खेत काटना था। इस प्रकार आदमी के अनिश्चय और जाने के निश्चय के साथ ही मैं सो गया।

तीसरी मंजिल

सरहद के पार

§ १. तिब्बत में प्रवेश

आज (१४ मई) सवेरे थोड़ा पानी बरस रहा था। बड़े सवेरे ही शौच आदि से निवृत्त हो मैंने तमद्ध तरुण से साथ चलने को कहा। उसे पके खेत को काटना था, इसलिए अवश्य कठिनाई थी। अन्त में मैंने उसे सातपानी तक ही चलने के लिए कहा। उसके मन में भी न जाने क्या ख्याल आया, और वह चलने को तय्यार हो गया। तब तक आठ बज गये थे। बूँदें भी कुछ हलकी हो गई थीं। मैंने सब से विदाई ली। गाँव से थोड़ा मक्खन और सत्तू लेना था। मक्खन तो न मिल सका, सत्तू लेकर हम चल पड़े। मालूम हुआ, हमारे रास्ते के बगल में ही चरवाहों का डेरा है, वहाँ मक्खन मिल जायगा। हमारा रास्ता पहाड़ के ऊपरी हिस्से पर से जा रहा था। यहाँ चारो

ओर जङ्गल था। रास्ता कहीं कहीं तो काफी चौड़ा था। इन रास्तों की मरम्मत आदि गाँव के लोग ही किया करते हैं।

छः घण्टे बाद हम चरवाहों के डेरे में पहुँच गये। मोटी जंजीर में बँधे कुत्तों ने कान के पर्दे फाड़ना शुरू किया। गृहिणी ने कुत्ते को दबाया, तब फिर हम डेरे के भीतर घुसने पाये। डेरा क्या था, चटाइयों से छाया हुआ झोंपड़ा था जिसके भीतर खाने-पीने का सामान कपड़े बिछौने बर्तन सभी ठीक से रक्खे हुए थे। ज़ामो (=गाय और चमरे से उत्पन्न मादा) दुही जा रही थी। गृहपति लकड़ी के छोटे बर्तनों में दूध दुह दुह कर लाता था। गृहपत्नी चारा तय्यार कर रही थी। इस देश में दुहने के वक्त गाय के सामने कोई खाने की चीज़ अवश्य रखनी होती है। डेरे के एक कोने में लकड़ी का बड़ा बर्तन छाछ से भरा हुआ था। डेरेवालों ने दूध पीने को कहा, किन्तु मैंने छाछ पसन्द की। इसके बाद उन्होंने खाने का आग्रह किया रास्ते में कुछ खाने को मिलेगा या नहीं इस का कुछ ठीक न था; इसलिए मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसी समय उन्होंने चावल और तरकारी बनाई। खाना समाप्त करने तक उन्होंने मक्खन भी तैयार कर दिया। इस प्रकार ग्यारह बजे के करीब हमें छुट्टी मिली।

विशालकाय वृक्षों के बीच से रास्ता बड़ा सुहावना मालूम होता था। जंगली पक्षियों के मधुर शब्द कर्णगोचर हो रहे थे। मेरा साथी भोटिया भाषा अच्छी जानता था, उसकी

बोली में नहीं जानता था। दोनों बीच बीच में भोटिया में बात करते, कभी स्ट्रॉबरी चुनते, कभी जोकों से पैर बचाते, आगे बढ़ रहे थे। ऊपर कहीं कहीं गाँव भी मिलते थे। यह सभी गाँव यल्मो लोगों के थे। सारा गाँव सफ़ेद ध्वजाओं का जंगल था। गाँव के पास रास्ते में मानी का होना अनिवार्य था। मानियों के दोनों ओर रास्ता बहुत साफ बनाया गया था। बौद्ध यात्री सदा इन मानियों को दाहिने रख परिक्रमा करते चला करते हैं। यद्यपि इस प्रकार चारों ओर परिक्रमा नहीं होती, तो भी उस की लम्बी परिक्रमा हो जाती है, या भविष्य की यात्राओं से परिक्रमा पूरी हो जाती है और आदमी महापुण्य का अधिकारी हो जाता है। एक गाँव में तो मानी की दीवारों में पत्थरों पर खुदी हुई तस्वीरों पर रंग भी ताजा ही लगा हुआ था। ऊपर कह चुका हूँ, यल्मो लोगों में लामा-धर्म बहुत जागृत है, और वे खाने-पीने से भी खुश हैं।

एक बजे के करीब हम डाँडे के किनारे पर आये। यहाँ से हमें दूसरी ओर जाना था। ऐन 'ला' (घाटा, जोत)[१] पर बड़ी मानी थी। दूसरी ओर पहुँचते ही सीधी उतराई शुरू हुई। थोड़ा

---

१. [पहाड़ के एक तरफ़ चढ़ कर दूसरी तरफ़ जहाँ उतरा जाता है, वहाँ उस के शिखर को कुमाऊँ-गढ़वाल में घाटा, नेपाल भन्ज्याङ, कुल्लू, कांगड़ा में जोत, अफ़गानिस्तान में कोतल या गर्दन, महाराष्ट्र में घाट और राजपूताना में घाटी कहते हैं। यही तिब्बती ला है।]

नीचे उतरने पर जङ्गल आँखों से ओझल हो गया। चारों ओर खेत ही खेत थे। थोड़ी ही देर में पके जौ और गेहूँ के खेत भी ऊपर छूट गये। जितना ही हम नीचे जाते थे, उतना ही ताप-मान का स्पष्ट प्रभाव खेतों पर दिखाई पड़ता था। मैं भी अब चलने में कमजोर न था, मेरे साथी को भी खेत काटने के लिए जल्द लौटना था। इसलिए हम खूब तेजी से उतर रहे थे।

तमङ्गों के कितने ही गाँवों को पार कर, निचले हिस्से मे गोर्खों के गाँव मिले। यहाँ मकई एक एक बालिश्त उगी थी। तीन चार बजे हम नीचे नदी के पुल पर पहुँच गये। यहाँ भी एक सरकारी सिपाही रहता था; किन्तु उसे एक भोटिया लामा से क्या लेना था? पार होकर चढ़ाई शुरू हो गई। चढ़ाई में अब उतनी फुरती नहीं हो सकती थी। पाँच बजे के बाद थकावट भी मालूम होने लगी। हमने सवेरे ही बसेरे का निश्चय कर लिया। पास के गाँव में एक ब्राह्मण का घर मिला। गृहपति ने लामा को आसन दे दिया। साथी ने भात बनाया। रात बिता कर फिर हम ऊपर की ओर बढ़े। कितने ही गांवों और नालों को पार करते दोपहर के क़रीब हम डाँडे पर पहुँचे। डाँडे को पार करते ही फिर वृक्षों से शून्य पहाड़ मिला। बारह बजे के बाद दूसरा डाँडा भी पार कर लिया, और अब हम काठमाण्डव से कुती जानेवाले रास्ते पर थे। यह रास्ता ऊपर से जाने वाला है। नीचे से एक दूसरा भी रास्ता है, लेकिन वह बहुत गर्म है।

इस डाँडे को पार करने पर फिर हमें घना जंगल मिला। आज

कल कुती से नमक लाने का मौसम था, इसलिए झुण्ड के झुण्ड आदमी या तो मकई चावल लेकर कुती की ओर जा रहे थे, या नमक पीठ पर लादे पीछे लौट रहे थे। दो बजे के करीब से फिर उतराई शुरू हुई। अब भी हम शर्वों की बस्ती में थे। यल्मो लोग भी शर्वा-भोटियों की एक शाखा हैं। ये शर्वा-भोटिये दार्जिलिंग तक बसते चले गये हैं, शर्-याका मतलब है पूर्व-वाला। एक शर्वा से पूछने से मालूम हुआ कि डुक्पालामा अभी इधर से नहीं गुजरे हैं। विश्वास हो चला, शायद पीछे ही हैं। एक घण्टे की उतराई के बाद मालूम हुआ, लुक्पालामा अगले गाँव मे ठहरे हुए हैं। बड़ी प्रसन्नता हुई। तीन बजे हम जा कर उन के सामने खड़े हुए। मेरा उन का कोई झगड़ा तो था नहीं, सिर्फ़ जातीय स्वभाव के कारण उन्होंने मेरी उपेक्षा की थी। सभी लोग 'पंडिता' को देख कर बड़े प्रसन्न हुए। उस रात को वहीं रहना हुआ। गाँव तमगों का था। ये लामा धर्म के मानने वाले कहे जाते हैं, लेकिन डुक्पा लामा ऐसे बड़े लामा के लिए भी उनको कोई श्रद्धा न थी। दाम देने पर मुश्किल से चीज मिलती थी। मेरे दिल में अब पूर्ण शान्ति थी। कुल्लू के रिछ्रन् साथ थे। डुक्पा लामा का शरीर बहुत भारी था, और चलने में बहुत कमजोर थे, इसलिए बीच बीच में उन को ढोने के लिए दो आदमी साथ ले लिये थे। हमारी जमात में चार लामा और चार गृहस्थ थे। इस प्रकार सब मिल कर हम आठ आदमी थे।

सवेरे फिर उतराई शुरू हुई। यहाँ नदी पर लोहे का झूले-

वाला पुल था। आम रास्ता होने से यहाँ चट्टी पर दूकानें थीं। खाने की और कोई चीज तो न मिली, हाँ आग में भुनी मछलियाँ मिलीं। चढ़ाई फिर शुरू हुई। शाम तक चढ़ाई चढ़ते हम तमंगों के बड़े गाँव में पहुँचे। वहाँ रात बिता गुरु को ढोने के लिए दो आदमी ले फिर सवेरे चल पड़े। एक डाँडा और पार करना पड़ा, फिर उतराई शुरू हुई। अन्त में हम काली नदी के किनारे पहुँच गये। अब हम काठमाण्डव से आनेवाले बड़े मार्ग पर आ गये। सड़क पर नमक वालों का मेला सा जाता हुआ मालूम होता था। अब हम शर्वा लोगों के प्रदेश में थे। १८ मई को हम काली नदी के ऊपरी भाग पर शर्वों के एक बड़े गाँव में ठहरे। साथियों ने बतलाया, कल हम नेपाल की सीमान्त चौकी पार करेंगे।

इस यात्रा में और लोग तो थुक्पा सत्तू से काम चला लिया करते थे, किन्तु मेरे और डुक्पा लामा के लिये भात बना करता था। कभी कोई जंगली साग मिल जाया करता। कभी भुनी मछली का झोल मिल जाता था। आज तो इस गाँव में मुर्गी के अंडों की भरमार थी। हमने चालीस पचास अंडे खरीदे, और रात को ही सब ने उन्हें चट कर दिया। नीचे तो मुझे इन चीजों से कुछ सरोकार न था, किन्तु मैंने इस यात्रा में मांस का परहेज छोड़ दिया था। लड़कपन में तो इस का अभ्यास था ही, इसलिए घृणा की कोई बात नहीं। उसी रात को मैंने यल्मो में लिखे कुछ कागजों को जला दिया। मैंने सोचा कि तातपानी में कोई देख-भाल न करने लगे।

हम काला नदी के ऊपरी भाग पर थे। धीरे धीरे नदी की धार की ऊँचाई के साथ साथ हम भी ऊँचे पर चढ़ते जाते थे। नदी के दोनों ओर हरियाली थी। सभी जगह जंगल तो नहीं था, किन्तु नङ्गा पर्वत कहीं न था। दो बजे के करीब हम तातपानी पहुँचे। गर्म पानी का चश्मा होने से इसे तातपानी कहते हैं। गाँव में नेपाली चुङ्गी-घर और डाकखाना है। मेरी तबियत घबरा रही थी। डर रहा था, 'तुम मधेस का आदमी कहाँ से आया' तो नहीं कहेगा। हमारे लामा पीछे आ रहे थे। चुङ्गी वालों ने पूछा—लामा कहाँ से आते हो? हमने बतला दिया, तीर्थ से[१]। चुङ्गी से छुट्टी मिल गयी। रिञ्जन् ने कहा—अब हो गया न काम खतम? उसी वक्त मुझे मालूम हुआ कि फौजी चौकी आगे है। मैंने कहा—भाई! असली जगह तो आगे है।

थोड़ी देर में लामा भी आ गये। इस वक्त वर्षा हो रही थी। थोड़ी देर एक झोपड़ी में हमें बैठना पड़ा। फिर चल पड़े। आगे एक ऊँचे पर्वत-बाहु से हमारा रास्ता रुक सा गया। नदी की धार भी किधर से होकर आती है, नहीं मालूम पड़ता था। अब मेरी समझ में आया, क्यों तातपानी की फौजी चौकी तातपानी में न होकर आगे है। वास्तव में यह सामने की महान् पार्वत्य दीवार सैनिक दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। नीचे से जानेवाली बड़ी पल्टन को भी कुछ ही आदमी इस दीवार पर से रोक सकते हैं।

[१. अर्थात् भारत के बौद्ध तीर्थों की यात्रा से।]

थोड़ी देर में चढ़ाई चढ़ते हम वहाँ पहुँच गये जहाँ रास्ते में पहरे-वाला खड़ा था। पहरेवाले ने सबको रोक कर बैठाया, फिर हवल्दार साहेब को बुला लाया। यही वह असल जगह थी, जिस से मैं इतना डरा करता था। मैं अपने को साक्षात् यमराज के पास खड़ा समझ रहा था। पूछने पर हमारे साथी ने कह दिया, हम लोग केरोङ् के अवतारी लामा के चेले हैं। लामा भी थोड़ी देर में आ गये। हवल्दार ने जाकर कप्तान को खबर दी। उन्होंने सूबेदार भेज दिया। आते ही एक एक का नाम-ग्राम लिखना शुरू किया। उस समय यदि किसी ने मेरे चेहरे को देखा होता, तो उसे मैं अवश्य बहुत दिनों का बीमार सा मालूम पड़ता। भर-सक मैं अपने मुँह को उनके सामने नहीं करना चाहता था। अन्त में मेरी बारी भी आयी। रिञ्चेन् ने कहा—इनका नाम खुनू छवङ् है। सब को छुट्टी मिली मैं भी परीक्षा में पास हो गया। पेट भर-कर साँस ली। शाम करीब थी, इसलिए अगले ही गाँव में ठहरना था। सूबेदार ने गाँव के आदमी को कह दिया कि अवतारी लामा को अच्छी जगह पर टिकाओ और देखो तकलीफ न हो। हम लोग उसके साथ अगले गाँव में गये। यह गाँव फैली बाँह की आड़ में ही था। रात में रहने के लिए एक अच्छा कोठा मिल गया।

आज (१९ मई) डुक्पा लामा ने देवता की पूजा आरम्भ की। सत्तू की पिण्डियों पर लाल रङ्ग डाल कर मांस तैयार किया

गया।[1] घर से बढ़िया अरक (=शराब) आया। घी के बीसों दीपक जलने लगे। थोड़े मन्त्रों के जाप के बाद डमरू गड़गड़ाने लगा। रात के दस बजे तक पूजा होती रही। पीछे प्रसाद बाँटने का समय आया। शराब की प्रसादी मेरे सामने भी आयी। मैंने इन्कार कर दिया। इस पर देवता के रोष आदि की कितनी ही दलीलें पेश की गयीं; लेकिन यहाँ उन देवताओं को कौन मानता था? इधर चढ़ाई से ही मैंने दोपहर के बाद न खाने का नियम तोड़ दिया था। लाल सत्तू से मैंने इन्कार नहीं किया।

दूसरे दिन सवेरे चल पड़े; दो घण्टे में हम उस पुल पर पहुँच गये, जो नेपाल और तिब्बत की सीमा है। तिब्बत की सीमा में पैर रखते ही चित्त हर्ष से विह्वल हो उठा। सोचा, अब सब से बड़ी लड़ाई जीत ली।

§ २. कुती के लिए प्रस्थान

बीस मई को दस बजे से पहले ही हम भोट-राज्य की सीमा में प्रविष्ट हो गये। यहाँ भोटिया-कोसी नदी पर लकड़ी का पुल है, यही नेपाल और भोट की सीमा है। पुल पार करते ही चढ़ाई का रास्ता शुरू होता है। नमक का मौसम होने से आने-जाने वाले गोर्खा लोगों से रास्ता भरा पड़ा था। बीच बीच में एकाध भोटियों के घर भी मिलते थे। सभी घरों में यात्रियों के ठहरने

[१. अर्थात् उस में मांस की कल्पना कर ली गई।]

का प्रवन्ध था। उनके लिए मक्के की शराव सदा तैयार रहती थी। गृहस्थों के लिए यह पैसा पैदा करने का समय है। चारों ओर घना जङ्गल होने से रात-दिन धूनी जलती ही रहती है। यात्रियों के झुण्ड मल मूत्र का उत्सर्ग कर रास्ते के किनारे की भूमि को ही नही बल्कि चैत्यों और मानियों की परिक्रमाओं को भी गन्दा कर देते हैं। उस दिन दोपहर का भोजन हमने रास्ते में एक यल्मो के घर में किया। यह पति-पत्नी यल्मो से आकर यहाँ बस गये हैं।

अब हम बड़े मनोहर स्थान में जा रहे थे। चारों ओर उत्तुङ्ग शिखरवाले, हरियाली से ढँके पहाड़ थे जिन में जहाँ तहाँ झरनों का कलकल सुनाई देता था। नीचे फेन उगलती कोसी की बेगवती धार जा रही थी। नाना प्रकार के पक्षियों के मनोहर शब्द सारी दून को जादू का मुल्क सिद्ध कर रहे थे। इस सारे ही आनन्द में यदि कोई डर था, तो वह जगह जगह उगे बिच्छू के पौधों का। इस समय ङुक्पा लामा को ढोनेवाला कोई न था। इसलिए उन्हें बार बार बैठना पड़ता था। हमें भी जहाँ तहाँ इन्तजारी करनी पड़ती थी। मेरे बुद्ध गया के परिचित मङ्गोल भिक्षु लोब्-सङ-चो-रब् (=सुमति प्रज्ञ) कल एकाएक आ मिले थे। वे भी अब हमारे साथ चल रहे थे। चढ़ाई यद्यपि कहीं कहीं दूर तक थी, तो भी मैं खाली हाथ था, इसलिए कुछ कष्ट मालूम न होता था। दोपहर के बाद हमारा रास्ता छोटे छोटे बाँसों के जङ्गल में से जा रहा था।

चार बजे के करीब हम डामग्राम के सामने आ पहुँचे। यहाँ पर एक चट्टी सी बसी थी। लोगों को मालूम हो गया कि डुक्पा लामा आ रहे हैं। उन्होंने पहले से ही इन्तिजाम कर रखा था। उनके आते ही स्त्री-पुरुष शिर नवाने के लिए आगे बढ़े। लामा अपना दाहिना हाथ उनके सिर पर फेर देते थे।

कुछ लोग धूप जला कर भी आगे आगे चल रहे थे। रास्ते से हट कर एक कालीन बिछाया गया, जिसके सामने प्याला रखने की एक छोटी चौकी रखी गयी। बैठते ही चाय आयी। मैंने तो छाछ पसन्द किया। डुक्पा लामा को चावल और नेपाली मुहरों की भेंट चढ़नी शुरू हुई। उन्होंने मन्त्र पढ़ पढ़ कर लाल पीले कपड़े की चिटों को बाँटा। आध घण्टे में यह काम समाप्त हो गया और हम आगे बढ़े। धीरे धीरे हम कोसी की एक छोटी शाखा पर आये, जिसकी धार घोर कोलाहल करती बड़े ऊँचे से वहाँ गिर रही थी। यहाँ लोहे की जञ्जीरों पर झूले का लम्बा पुल था जो बीच में जाने पर बहुत हिलता था। बहुतों को तो पार होने में डर मालूम होता था। हमारे साथ का नेपाली लड़का गुमा-जू बहुत मुश्किल से पार हुआ। इस पुल की रक्षा के लिए रङ्गबिरंगी झण्डियों वाला देवता स्थापित है।

पुल के पास ही डाम् गाँव है। ऊपर नीचे खेत भी हैं। गाँव में बीस-पच्चीस घर हैं। घर अधिकतर पत्थर की दीवारों के हैं और लकड़ी के पटरों से छाये हुए हैं। मकान दो-तल्ले तिन-तल्ले हैं। कुछ ही ऊपर देवदारु का जङ्गल है। इसलिए छाने

पाटने सभी में देवदारु की लकड़ी का उपयोग किया गया है। यहाँ हमारे ठहरने के लिए एक खास मकान पहले से ही तैयार किया गया था। नमक के समय सभी घरवालों को यद्यपि नमकवालों के टिकाने में नफा था, तो भी लामा का डर और सम्मान कम चीज न थी। गाँव में घुसते ही यहाँ भी डुक्पा लामा को सिर छुआने के लिए नर-नारी दौड़ने लगे। मकान पर पहुँचने पर तो आदमियों से घर भर गया। दो-तल्ले पर हम लोगों को टिकाया गया। डुक्पा लामा के लिए मक्खन में शराब बघारी गई। हम लोगों के लिए मक्खन डाल कर अच्छी चाय तैयार हुई।

रात को ही रिन्-चेन् ने कह दिया था कि कल से अवलोकितेश्वर का महाव्रत आरम्भ होगा। सब लोग व्रत रखने जा रहे थे। मैंने कहा, मैं भी व्रत रखूँगा। यह व्रत तीन दिन का होता है। पहिले दिन दोपहर के बाद नहीं खाते, दूसरे दिन मौन और निराहार रहते हैं, तीसरे दिन पूजा मात्र की जाती है। व्रत के साथ मन्त्र-जाप और पाठ होता है। पचासों दीपक जलाना, सत्तू और मक्खन के तोर्मा (=बलि) बना कर सजाना आदि होता है। अनेक बार-सैकड़ों साष्टाङ्ग दण्डवतें भी करनी पड़ती हैं। अवलोकितेश्वर के इस व्रत (=न्यूमा) में शराब और मांस की सर्वथा मनाई है। दूसरे दिन दोपहर को चावल का भोजन हुआ। सबके साथ मैंने भी सैकड़ों साष्टाङ्ग दण्डवतें कीं। इन दण्डवतों से मैं तो थक गया। झूठ मूठ की परेशानी कौन उठाने सोच दूसरे दिन सवेरे ही मैंने सत्तू और चाय ग्रहण

कर ली। दोपहर को एक भोटिया सज्जन मुझे अपने घर ले गये। वहाँ उन्होंने मुर्गी के अण्डे की नमकीन सेवइयाँ तैयार कराई थीं। भोजन के बाद उनसे नाना विषयों पर बात होती रही। वे ल्हासा में रह चुके थे। इन्होंने वर्षों तक चीन की सीमा पर के खाम् प्रदेश में रह कर अध्ययन किया है। गोर्खा भाषा भी अच्छी तरह जानते हैं। तीसरे दिन वैशाख की पूर्णिमा[1] थी। हमारे पूर्व परिचित सज्जन ने आज बुद्धोत्सव मनाया। उनसे मालूम हुआ कि इस दिन सारे भोट में बुद्धोत्सव मनाया जाता है।

इन तीन दिनों में लोगों की भेंट-पूजा भी समाप्त हो गई। चौबीस मई को नाश्ता कर हम आगे चले। कुछ ही दूर आगे बढ़ने पर हम देवदारु-कटिबन्ध में पहुँच गये। नदी के दोनों तरफ इधर उधर देवदारु के ही वृक्ष दिखाई देते थे। दो बजे से पहले ही हम चिना गाँव में पहुँचे। यह एक बड़ा गाँव था। लोगों को खबर पहले से ही मिल गई थी। यहाँ डुक्पा लामा का स्वागत बाजे-गाजे से हुआ। आसन पर बैठते बैठते दर्जनों थाल चावल नेपाली मुहरों तथा खाता (=चीन का बना सफेद रेशमी कपड़ा जो माला के स्थान पर समझा जाता है) के साथ आ गया। शाम को रिन्चेन् ने कहा—गुरु जी यहाँ तीन दिन और पूजा करेंगे। यह बीच बीच का रुकना मुझे बुरा तो मालूम

[१. बुद्ध के जन्म, बोध और निर्वाण तीनों की तिथि वैशाख-पूर्णिमा है। वह बौद्ध के लिए सब से पवित्र तिथि है।]

होता था, लेकिन उपाय ही क्या था? सौभाग्य से गाँव वालों ने लामा से रहने का आग्रह नहीं किया। अन्दाज से मालूम हुआ कि देनेवाले असामी अपनी अपनी पूजा चढ़ा चुके हैं। पहर भर रात गये, रिन्-चेन् ने कहा कि कल चलना होगा। उसकी यह बात मुझे बहुत ही मधुर मालूम हुई।

दूसरे दिन आठ-नौ बजे के करीब हम चले। खाली हाथ होने से मैं बीच बीच में आगे बढ़ जाता था। अब भी हमारे चारों ओर देवदारु का जङ्गल था। कहीं कहीं कुछ छोटी छोटी गायें चरती दिखाई पड़ती थीं। आगे एक नया घर मिला। घर से जरा आगे बढ़ कर मैं पीछेवालों की प्रतीक्षा करने लगा। देर तक न आते देख घर में गया। घरवालों को मैंने बतलाया कि डुक्पा लामा रेन्पो-छे आ रहे हैं। फिर क्या था, उन्होंने भी झट चाय डालकर पतीली आग पर चढ़ा दी। लामा के आते ही मैंने कहा कि चाय तैयार हो रही है। गृहपति ने प्रणाम कर नये घर में लामा की पधरावनी कराई। घर के एक कोने में पानी का छोटा सा चश्मा निकल आया था। लामा ने उसके माहात्म्य पर एक वक्तृता दी। यहाँ भी एक थाली चावल और कुछ मुहरें मिलीं। थोड़ी देर में मक्खन डाल कर गाढ़ी चाय बनी। सब ने चाय पीकर आगे कदम बढ़ाया।

दोपहर के बाद देवदारु के वृक्ष छोटे होने लगे। वनस्पति भी कम दिखलाई पड़ने लगी। अन्त में नदी की धार को रोके विशाल पर्वत भुजा दिखाई पड़ी। इसके पार होते ही हरियाली

का साम्राज्य विलुप्त सा हो गया। अब बहुत ही छोटे छोटे देवदारु रह गये थे। घास भी उतनी न थी। चार बजे के करीब हम चक्-सुम् गाँव के पास पहुँचे। सुमति-प्रज्ञ पहले ही गाँव में पहुँच चुके थे। वह मक्खन डाल गर्म चाय बनवा कर अगवानी के लिए आये। मुझसे कुछ देर बाद और लोग भी पहुँच गये। सब लोग एक एक दो दो प्याला चाय पीकर फिर आगे चले। यहाँ ऊपर नीचे बहुत सी चमरी गायें (=याक्) चरती दिखाई पड़ीं। मालूम हुआ, यह वनस्पतियों का अन्तिम दर्शन है। वर्ष दिन बाद ही मुझे फिर आँख भर हरियाली देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

चक्-सुम् गाँव भी खासा बड़ा है। यहाँ गाँव से नीचे नदी के पास गर्म पानी के दो चश्मे हैं, इसलिये इसे छू-कम् (=गर्म पानी) भी कहते हैं। यहाँ सब से अच्छे मकान में लामा जी को ठहराया गया। रात को लकड़ी की मशाल जला कर हम गर्म चश्मे मे स्नान करने गये। मेरे साथी सभी नङ्गे नहा रहे थे। उस समय तो खैर रात थी। दूसरे दिन जब मैं दिन में भी नहाने गया, तो देखा कि भोटिया लोग स्त्रियों के सामने नग्न नहा रहे हैं। वस्तुतः उसके देखने से तो मालूम होता था कि यदि सर्दी का डर न होता, तो ये लोग भी कांगो के हब्शियों की तरह नङ्गे घूमा करते।

ग्राम बड़ा था; पूजा अभी काफी नहीं आई थी। इसलिये डाम् से आये भद्र पुरुष यद्यपि लामा के ढोने के लिए आदमी का प्रबन्ध कर थोड़ा आगे जाने के विचार से ही रवाना हुए थे, लेकिन

उनके जाते ही लामा ने कह सुन कर उस आदमी को दूसरे दिन के लिए चलने को राजी कर लिया। वह दिन लामा ने गर्म पानी में स्नान करने, गर्म गर्म शराब पीने, भक्तों का भाग्य देखने तथा मन्त्र-तन्त्र के उपदेश करने में बिताया।

छब्बीस मई को चक्सुम् से हम लोग रवाना हुए। यहाँ मैंने रिन्-चेन् से मांग कर भोटिया भिक्षुओं का कपड़ा पहन लिया। तो भी रह रह कर कलेजे में ठण्डी हवा का झोंका पहुँच जाता था। आज (कुती) पहुँचना है। ऐसा न हो कि यहाँ से लौटना पड़े! चक्सुम् से थोड़ा ही आगे पहुँचने पर वनस्पतियाँ लुप्त हो गयीं। आस-पास नंगे पहाड़ थे। कहीं कहीं दूर दूर पर उगी छोटी छोटी घासों को विशालकाय चमरियाँ चर रहीं थी। रास्ते में दो जगह हमें बर्फ के ऊपर से भी चलना पड़ा। दोपहर की चाय हमने जिस घर में पी, वहाँ आग कण्डे से जलायी गयी। लकड़ी यहाँ दुर्लभ हो गई थी। अब रास्ता उतना कठिन न था। दाहिनी तरफ बर्फ से ढँकी रुपहली गौरीशङ्कर की चोटी दिखाई पड़ती थी। कुती (नेनम् का नेपाली नाम) के एक मील इधर ही डुक्पा लामा के चढ़ने के लिए घोड़ा आ गया। आज तो उन्हें ढोने के लिए आदमी मिल गया था, इसलिए उन्होंने सवारी न की। कुछ अनुचर आगे भेजे गये। मुझे भी लामा ने उनके साथ आगे जाने को कहा। किन्तु मैंने लामा के साथ ही जाने का आग्रह किया। दिल में तो दूसरा ही डर लग रहा था। अन्त में वह भी समय आ गया, जब

पाँच बजे के करीब हम कुती में दाखिल हुए। नई माणी की प्रतिष्ठा के लिए लामा के पास चावल आये। उन्होंने "सुप्रतिष्ठ वज्र स्वाहा" कर के माणी के चारों ओर चावल फेंक दिया। हम लोगों को एक अच्छे मकान में ठहराया गया। पहुँचते ही हमारे लिए गर्म चाय और लामा के लिए घी में छौंकी शराब तैयार मिली। लामा के ही कमरे में मेरे लिए भी आसन लगाया गया।

§ ३. राहदारी की समस्या

डुक्‌पा लामा को लप्‌-ची में एकान्त-वास के लिए जाना था। लप्‌-ची तिब्बत के महान्‌ तान्त्रिक कवि और सिद्ध जे-चुन्‌ मिला-रे-पा के एकान्तवास का स्थान है। इसलिए भोटिया लोग इसे बहुत ही पवित्र मानते हैं। डुक्‌पा लामा शेष जीवन वहीं विताने के लिए जा रहे थे। अभी मालूम हुआ कि लप्‌-चीके रास्ते वाले ला (घाटे) पर वर्फ पड़ गई है, इसलिए वह अभी जा नहीं सकते थे। कुती भी अच्छा खासा कस्बा है और आजकल नमक का मौसम होने के कारण दूर दूर के आदमी आये हुए थे इसलिए भी अभी कुछ दिन तक उन्हें यहीं विश्राम करना था। कुती में पहुँचने के दूसरे ही दिन मैंने अपने साथ आये आदमी को नेपाली तेरह मुहरें (=५ रु० ४॥ आना) दे दीं। तात पानी तक आने के लिए उसे चार मुहर देना ही निश्चय हुआ था। उस हिसाब से उसे चार ही मुहर और मिलनी चाहिए थी।

वह अपनी मेहनत का मूल्य उतना थोडे ही लगा सकता था, जितना कि मैं समझता था; इसलिए वह बहुत सन्तुष्ट• हुआ और सब का नमक खरीद लाया।

बरसात अब आनेवाली थी। इससे पूर्व के दो तीन मासों में कुती का रास्ता लोगों से भरा रहता है। नेपाली लोग चावल मकई या दूसरा अनाज लेकर कुती पहुँचते हैं, और भोटिया लोग भेड़ों तथा चमरियों पर नमक लाद कर पहुँचते हैं। कुती में अनेक दूकानें नेपाली सौदागरों की हैं। ये नमक और अनाज खरीद लेते हैं। कोई कोई सीधे भी अनाज से नमक बदल लेते हैं। नमक के अतिरिक्त भोटिया लोग सोडा भी लाते हैं। यह सभी चीजें तिब्बत की कुछ झीलों के किनारे मिलती हैं। इनके ऊपर कुछ राज-कर भी है। गोर्खा लोग तो घरों में जहाँ तहाँ ठहर जाते हैं; लेकिन भोटियों के पास सैकड़ो चमरियाँ होती हैं, इस वजह से वे बाहर ही ठहरते हैं।

जिस दिन मैं कुती पहुँचा, उस दिन कुछ नेपाली सौदागर भी शीगर्ची (टशी-ल्हुन्-पो) जाने के लिए कुती में थे। इस रास्ते से शीगर्ची ल्हासा जाने वाले नेपाली लोग यहीं से घोड़ा किराये पर करते हैं। यहाँ से घोड़े का किराया टशी-ल्हुन्-पो तक का ४०, ४५ साङ् के करीब था; रुपये का मूल्य उस समय लगभग डेढ़ साङ् के था। एक ही घोड़ा शुरू से आखिर तक नहीं जाता। जगह जगह घोड़े बदले जाते हैं। इसी किराये में घोड़े वाला खाना-पीना भी देता है। मैंने और मेरे साथियों ने बहुत

कोशिश की कि किसी तरह इन्हीं नेपाली सौदागरों के साथ चले जावें, किन्तु उन्होंने इन्कार कर दिया।

चारों ओर निराशा ही मालूम हो रही थी। इधर डुक्पा लामा की पूजा के लिए बराबर लोग आते रहते थे। चावलों और खातों का ढेर लगता जा रहा था। हर थाली के साथ कुछ नेपाली मुहरें भी अवश्य आती थीं। कोई कोई मांस और अण्डा भी लाते थे।

२९ मई को डुक्पा लामा को ज़ोङ्-पोन् (=जिला मजिस्ट्रेट) का बुलावा आया। मेरे साथियों में किसी किसी ने मुझे भी चलने को कहा। कहा—लदाखी कह देंगे। भला मैं कहाँ 'आ बैल, मुझे मार' करने जा रहा था ? वे लोग डुक्पा लामा के साथ गये। ज़ोङ्पोन् डुक्पा लामा का नाम पहले ही सुन चुका था। उसने बड़ी खातिर की। डुक्पा लामा ने भी भाग्य-भविष्य देखा और कुछ मन्त्र-पूजा की। शाम को लोग लौट आये। उनसे मालूम हुआ इस वक्त एक ही जोङ्-पोन् है, दूसरा जोङ्-पोन् मर गया है। उसकी स्त्री फ़िलहाल कुछ काम देखती है। अभी नया ज़ोङ्-पोन् नहीं आया है। तिब्बत में हर गाँव में मुखिया (=गोबा) होते हैं। इनके ऊपर इलाके इलाके का ज़ोङ्-पोन् (=जिला-अफसर) होता है। ज़ोङ् का अर्थ किला है, और पोन् का अर्थ 'अफसर'। ज़ोङ् अधिकतर पहाड़ की छोटी टेकरी पर बने हैं। कुती के पास ऐसा कोई पहाड़ न होने से ज़ोङ् नीचे ही है। प्रदेश के छोटे बड़े होने के

घड़ा होता है। हर जोङ् में दो जोङ्-पोन् होते हैं, जिनमें एक गृहस्थ और दूसरा साधु हुआ करता है। कहीं कहीं इसका अपवाद भी देखा जाता है, जैसे आज कल यहाँ कुती में ही। जोङ्-पोन् के ऊपर दलाई लामा की गवर्नमेण्ट का ही अधिकार है। न्याय और व्यवस्था दोनों में ही जोङ्-पोन् का अधिकार बहुत है। एक तरह उन्हें उस प्रदेश का राजा समझना चाहिए। प्रायः सारे ही जोङ्-पोन् ल्हासा की ओर के होते हैं। उनमें भी अधिकांश दलाई लामा के कृपा पात्रों के सम्बन्धी या प्रेमी होते हैं। जिस जोङ्-पोन् की जगह आज कल खाली है, उसके खिलाफ इस प्रदेश की प्रजा के कुछ लोग ल्हासा पहुँच गये थे। उन्होंने दर्बार में अपनी दुःख-गाथा सुनायी। सर्कार की नजर अपने खिलाफ देखकर, कहते हैं, यह जोङ्-पोन् ल्हासा की नदी में डूब मरा।

भोट में व्यापार के लिए जाने वाले नेपाली राजाज्ञा के अनुसार अपनी स्त्रियों को नहीं ले जा सकते, इसीलिए प्रायः सभी नेपाली भोटिया स्त्री रख लेते हैं। ये स्त्रियाँ बड़ी ही विश्वास-पात्र होती हैं। भोट के कुछ स्थानों में नेपालियों को विशेष अधिकार प्राप्त हैं, जिनके अनुसार नेपाली प्रजा का मुकदमा नेपाली न्यायाधीश ही कर सकता है। इस न्यायाधीश को नेपाली लोग डीठा कहते हैं। केरोङ्, कुती, शीगर्ची, ग्याञ्ची, और ल्हासा में नेपाल सर्कार के डीठा हैं। ल्हासा में सहायक डीठा तथा राजदूत भी रहता है। ग्याञ्ची में भी नेपाल का राजदूत है। भोटिया स्त्री से उत्पन्न

नेपाली का पुत्र नेपाल की प्रजा होता है और कन्या भोट सर्कार की प्रजा होती है। ऐसी सन्तान को नेपाली लोग खचरा कहते हैं। इस खचरा सन्तान तथा उसकी माँ का कुछ भी हक पिता की सम्पत्ति में नहीं होता। पिता जो खुशी से दे दे, वही उनका हक है। इसपर भी जिस अपनपौ के साथ ये अपनी नेपाली पिता या पति के कार-बार का प्रबन्ध करती हैं, वह आश्चर्य-जनक है।

३० मई तक हम सब उपाय सोच कर हार गये। कोई प्रबन्ध आगे जाने का न हो सका। कुती के पास वाली नदी पर पुल है; यहीं राहदारी (=लम्-यिक्=पासपोर्ट) देखने वाला रहता है इसके पार होने पर आगे या लेप् में एक बार और राहदारी देखी जाती है। जब सब तरफ से मैं निराश हो गया, तो सोचा कि अब मङ्गोली भिक्षु सुमति-प्रज्ञ के साथ ही जाने का प्रबन्ध करना चाहिए। सुमति-प्रज्ञ अब भी कुती में ठहरे थे। उनसे मैंने कहा कि मुझे अपने साथ ले चलिये। वे बड़े खुश हुए, और बोले कि मैं कल लम्-यिक् लाऊँगा, और कल ही हम लोग यहाँ से चलेंगे। वे तो निश्चिन्त थे, किन्तु मुझे अब भी बड़ा सन्देह था। मैंने एक भारतीय साधु बाबा को भी देखा, जो दो मास से यहीं ठहरे हुए थे, न आगे जा सकते थे, न पीछे लौट सकते थे। खैर, एक बार हिम्मत करने की ठान ली। उसी रात एक नेपाली सौदागर के घर में डुक्पालामा को भूत-प्रेत हटाने और भाग्य बढ़ाने के लिए पूजा करने का बुलावा था। मैं भी साथ गया। अनेक स्त्री

पुरुष और बच्चे जमा हुए थे। दीपक की धीमी रोशनी में मनुष्य की जाँघ की हड्डी का बीन बाजा, जुड़ी खोपड़ी पर मढ़ा डमरू तथा दूसरी इसी प्रकार की भयावनी सामग्री लेकर डुक्पा-लामा और उनके चेले पूजा-स्थान पर बैठे। चिराग और भी धीमा कर दिया गया। पूजा करने वालो को पर्दे में कर दिया। उन्होने मन्त्र-पाठ शुरू किया। बीच बीच में डमरू की कड़कती आवाज, तथा चन्द महीनों के बच्चे के करुणापूर्ण रोदन जैसे हड्डी की बीन के शब्द सुनाई पड़ते थे। ऐसे वायुमण्डल में मन्त्र-मुग्ध न होना सब का काम नहीं है। यह पूजा आधी रात के बाद तक होती रही। पूजा के बाद फिर पूजा के जल से नर-नारियों और बच्चों का अभिषेक हुआ। इसके बाद सब लोग सोने के लिए आसन पर गये।

३१ मई को सवेरे मैं तो यात्रा की आवश्यक चीजो को जमा करने में लगा और सुमति-प्रज्ञ को लम्-यिक् के लिए छोड़ रखा। मेरे पास उस समय साठ या सत्तर रुपये थे। मैंने तीस रुपये का नोट अलग बाँधकर, बाकी में से कुछ का सामान खरीदा और कुछ का भोटिया टङ्का भुनाया। इस समय कुती में रुपये का भाव नौ टङ्का था। सिक्का सभी आधे टङ्का वाला (=छी-के) मिला। सर्दी के ख्याल से यहाँ चार रुपये का एक भोटिया कम्बल भी लिया। हाम् के सज्जन ने, जो यहाँ आ चुके थे, एक ऊनी पीली टोपी दी। कुछ चिउड़ा, चावल, चीनी चाय, सत्तू और मसाला भी खरीद कर बाँधा। चूँकि अब सब चीजें अपनी पीठ पर लाद कर चलना था, इसलिए उन्हें थोड़ा ही थोड़ा खरीदा। डुक्पा-लामा

ने मेरे लिए एक परिचय-पत्र भी दे दिया। इसी समय सुमति-प्रज्ञ भी दोनों आदमियों के लिए लम्-यिक् लेकर चले आये। दो मास से अधिक की घनिष्ठता के कारण मेरे सभी साथियों को मित्र-वियोग का दुःख हुआ। डुकूपा-लामा ने भी बड़ी सहृदयता के साथ अपनी मङ्गल-कामना प्रकट की। उन्होंने कुछ चाय तथा दूसरी चीजें भी दीं।

§ ४. टशी-गङ् की यात्रा

ढोने की लकड़ी (=खुर-शिङ्) के बीच में सामान बाँध कर पीठ पर ले, हाथ में लम्बा डण्डा लिये दोपहर को एक बजे के करीब हम दोनों कुती से निकले। पुल पर पहुँचते देर न लगी। उस समय वहाँ कोई लम्-यिक् भी देखने वाला न था। साधारण लकड़ी पाटकर पुल बनाया गया है। पार हो कर थोड़ा ऊपर चढ़ना पड़ा। जिन्दगी में आज यह पहले ही पहल बोझा उठा कर चलना पड़ा था, इसलिए चढ़ाई की कडुआहट के बारे में क्या कहना? रह रह कर ख्याल आता था, मनुष्य को इसका भी अभ्यास करके रखना चाहिए। जराही चढ़ाई के बाद हम कोसी की दाहिनी मुख्य धार के साथ साथ ऊपर चढ़ने लगे। रास्ता साधारण था। बोझ बीस-पच्चीस सेर से ज्यादा न था, तो भी थोड़ी ही देर में कन्धा और जाँघें दुखने लगीं। सुमति-प्रज्ञ अपने ३०, ३५ सेर के बोझ के साथ मजे में बातें करते चल रहे थे। मुझे तो उस समय बातें भी सुनने में कड़वी मालूम हो रही थीं। नदी की दून काफ़ी चौड़ी थी, किन्तु कहीं वृक्ष नहीं थे। रास्ते में

एकाध घर भी दिखाई पड़े, लेकिन वह देखने में पत्थर के ढेर से मालूम होते थे। जहाँ तहाँ कुछ जोते हुए खेत भी थे।

डाम् के सज्जन लप्-ची जा रहे थे। आज वह सवेरे ही कुती से चल चुके थे, उन्हें आज टशी-गङ् में रहना था। सुमति-प्रज्ञ की भी सलाह आज वहीं रात्रिवास करने की हुई। सन्ध्या के करीब फर-क्ये-लिङ् मठ (=गुम्बा) दिखाई पड़ा। गुम्बा के पहले ही एक छोटा सा गाँव आया। हमने वहाँ से किसी आदमी को बोझा ले चलने के लिए लेना चाहा, किन्तु कोई भी तैयार न हो सका। वहाँ से फिर गुम्बा में पहुँचे। बाहर से देखने में यह बहुत सुन्दर मालूम होती है। भिक्षुकों की संख्या ३०, ४० से ज्यादा नहीं है। सामान बाहर रखकर हम देव दर्शन के लिए गये। बुद्ध, बोधिसत्त्व, महायान और तन्त्र के नाना देवी देवताओं की सुन्दर मूर्तियाँ, नाना प्रकार के सुन्दर चित्रपट, तथा ध्वजा आदि अखण्ड दीप के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे थे। मठ में जेचुन्-मिला के सामने वर्तन में छङ् (=कच्ची शराब) देखकर मैंने सुमतिप्रज्ञ से पूछा—यह तो गे-लुक्-पा-(=पीली टोपी वाले लामाओं के सम्प्रदाय) का मठ है, फिर क्यों यहाँ शराब है? उन्होंने बतलाया कि जे-चुन्-मिला सिद्ध पुरुष हैं। सिद्ध पुरुषों और देवताओं के लिए गे-लुक्-पा लोग भी शराब को मना नहीं करते। मनाही सिर्फ अपने पीने की है। मन्दिर से बाहर आने पर हमारे लिए चाय बन कर आ गयी थी। आँगन में बैठ कर हमने एक दो प्याले चाय पी। भिक्षुओं ने निवास-स्थान पूछा। सुमति-

प्रज्ञ ल्हासा डेपुङ् के गुम्बा के थे ही, और मैं था लदाख का। हम लोगों ने कहा कि ग्य-गर् (=भारत) दोर्जे-दन् (=बुद्ध गया)[1] से तीर्थ करके हम ल्हासा जा रहे हैं।

मैं इस समय थक गया था। कुती से हम लोग यद्यपि पाँच ही मील के करीब आये थे तो भी मेरे लिए एक क़दम आगे चलना कठिन मालूम होता था। उस समय वहाँ टशी-गङ्‌ का एक लड़का था। उसने बतलाया, डाम् के कुशोक् (=साहेब) टशी-गङ्‌ में पहुँच कर ठहरे हुए हैं। सुमति-प्रज्ञ ने वहाँ चलने को कहा। मैंने भी सोचा कल शायद आदमी का कोई प्रबन्ध हो जाय, इस आशा से चलना स्वीकार कर लिया। मठ पर ही अँधेरा हो चला था। हम लोग लड़के के पीछे पीछे हो लिये। नदी के किनारे किनारे कितनी दूर जाकर, हम पुल से उस पार गये। कितनी ही देर बाद बोये खेत मिले, जिससे विश्वास हो चला, अब पास में जरूर कोई गाँव होगा। थोड़ी देर आगे बढ़ने पर कुत्ते भूँकने लगे। मालूम हुआ, गाँव है, लेकिन हमारा गन्तव्य गाँव थोड़ा आगे है। अन्त में जैसे तैसे करके डाम् के सज्जन के ठहरने की जगह पर पहुँचे।

उस समय वह लोहे के चूल्हे में आग जला कर थुक्पा (= चावल की पतली खिचड़ी) पका रहे थे। हमको देख कर बड़े प्रसन्न हुए। जल्दी से मेरे लिए आसन बिछा दिया। मैं तो

---

१. [दोर्जे-दन् का शब्दार्थ वज्रासन। मध्य काल के संस्कृत अभिलेखों में बुद्ध-गया के लिए यही शब्द आता है।]

वोझे को अलग रख आसन पर लेट गया। चाय तयार थी, थोड़ी देर मे थुक्पा भी तयार हो गया। फिर मैंने दो-तीन प्याला गर्मागर्म थुक्पा पिया। फिर चाय पीते हुए अगले दिन के प्रोग्राम पर बातें शुरू हुईं। सुमति-प्रज्ञ ने कहा—लप्-ची जे-चुन्-मिला का सिद्ध-स्थान है, चा-छेन्-चो (= महातीर्थ) है, हम भी इनके साथ वहाँ चलें। लप्-ची जाने के लिए हमे इस सीधे रास्ते को छोड कर एक बड़े ला (घाटे) को पार कर पूर्व की ओर तुन्या कोसी की घाटी मे जाना पड़ता था। यहाँ से फिर दो ला पार कर तब तिङ्-री जाना पड़ता था। रास्ते मे एक जोड् भी था। इन सारी कठिनाइयों को देखते मेरा दिल तो जरा भी उधर जाने को न था, किन्तु वैसा कह कर नास्तिक कौन बनता ? उन्होंने बोझा ढोने के लिए आदमी का भी प्रवन्ध कर देने के लिए कहा; फिर मेरे पास बहाना ही क्या था ! अन्त में मुझे भी स्वीकृति देनी पड़ी। निश्चय हुआ कि कल भोजन कर यहाँ से चलेंगे।

दूसरे दिन भोजन करके दोपहर के करीब हम लोग टशी-गङ् से लप्-चीकी ओर रवाना हुए। मैं खाली-हाथ था, इसलिए चलने में बड़ा फुर्तीला था। धीरे धीरे हम ऊपर चढ़ते जा रहे थे। घण्टे डेढ़ घण्टे की यात्रा के बाद बूँदा बाँदी शुरू हुई। ऊनी पोशाक होने से भोटिया लोग वहाँ की वर्षा से डरते नहीं। आगे एक जगह रास्ता जरा सा तिर्छा ढालू पर्वत-पार्श्व पर से था। मिट्टी भी इस पर नर्म थी। रह रह कर कुछ मिट्टी-पत्थर भी ऊपर से कई सौ फुट नीचे की ओर गिर रहे थे। मुझे तो इस

दृश्य को देखकर रोमाञ्च हो गया—रह रह कर यह ख्याल होता था कि कहीं इस मिट्टी-पत्थर के साथ मैं भी न कई सौ फुट नीचे के खड्ड में चला जाऊँ। मेरे साथी दनादन बोझा उठाये पार हो रहे थे। मुझे सब से पीछे देखकर एक साथी ने हाथ पकड़ कर पार करना चाहा, लेकिन उधर मैं अपने को निर्भय भी प्रकट करना चाहता था। खैर, किसी प्रकार जी पर खेल कर उसे पार किया। हिचकिचाने का कारण था अपने ढीले भोटिया जूते के ऊपर थेपा।

और ऊपर चलने पर बूँद की जगह छोटे छोटे इलाइचीदाने की सी सफ़ेद नर्म बर्फ पड़ने लगी। हम लोग बे-पर्वाह आगे बढ़ रहे थे। दो बजे के समय हम ल्हर्से (=ला के नीचे टिकाव की जगह) पर पहुँच गये। अब वर्फ रूई के छोटे छोटे फाहे की तरह गिरने लगी। साथियों में कुछ लोग तो चमरियों के सूखे कण्डे जमा करने लगे, और कुछ लोग पत्थरों से रस्सियों को दबा कर छोलदारी खड़ी करने लगे। यहाँ हम चौदह-पन्द्रह हजार फुट से ऊपर ही रहे होंगे। बर्फ की वर्षा भी बढ़ती जा रही थी, जिससे सर्दी बढ़ती जा रही थी। किसी प्रकार छोलदारी खड़ी कर बीच में भाथी (धौंकनी) की सहायता से कण्डे की आग जलायी गयी। लोग चारों ओर घेर कर बैठ गये। चाय डाल कर पानी चढ़ा दिया गया। उस वक्त आग को भी सर्दी लग रही थी। धीरे धीरे सारी भूमि बर्फ से ढँकती जा रही थी। छोलदारी पर से बर्फ को रह रह कर गिराना पड़ता था। बडी देर

में मुश्किल से चाय तैयार हुई। उस वक्त मक्खन डाल कर चाय को कौन मथे? मक्खन का टुकड़ा लोगों के प्यालों में डाल दिया; और बड़ी कलुछी से चाय का नमकीन काला पानी बाँटा जाने लगा। कुशोक् (=भद्र पुरुष) के पास छोटा विस्कुट तथा नारङ्गी-मिठाई भी थी, उन्होंने उसे भी दिया। आग की उस अवस्था में थुक्पा पकाना तो असम्भव था, इसलिए सब ने थोड़ा थोड़ा सत्तू खाया। मैंने चाय में डाल कर थोड़ा चिउड़ा खाया।

धीरे धीरे अँधेरा हो चला। कुशोक् ने अपनी लालटेन जलवायी; और मुझे "बोधि-चर्यावतार" से कुछ पढ़ने को कहा। मेरे पास संस्कृत में "बोधि-चर्यावतार" की पुस्तक थी। कुशोक् को भोटिया में सारे श्लोक याद थे। मैं संस्कृत श्लोक कह कर, अपनी टूटी-फूटी भोटिया भाषा में उस का अर्थ करता था; फिर कुशोक् भोटिया में श्लोक कह कर उसे समझाते थे। इस प्रकार बड़ी रात तक हमारी धर्म-चर्चा होती रही। उसके बाद सभी लोग सिमिट सिमिट कर उसी छोटी छोलदारी के नीचे लेट रहे। सर्दी के कारण मैल की दुर्गन्ध तो मालूम न होती थी; किन्तु सबेरा होते होते मुझे विश्वास होने लगा कि मेरी जुँओं में कई सौ की वृद्धि हुई है। देखने में कुछ असाधारण मोटे ताजे लाल छुपा (=भोटिया चपकन) के हाशिये में छिपे पाये गये। बर्फ रात भर गिरती ही रही। छोलदारी पर से कई बार बर्फ को झाड़ना पड़ा।

प्रातःकाल उठकर देखा तो सारी भूमि, जो कि कल नङ्गी थी,

आज एक फुट से अधिक बर्फ से ढँकी हुई है। बर्फ से पिघल कर बहती पतली धार में जाकर हाथ-मुँह धोया। आग के लिए तो कण्डा अब मिलने ही वाला न था। खाने के लिए कुछ बिस्कुट और थोड़ी मिठाई मिली। सुमति-प्रज्ञ ने नीचे-ऊपर चारों ओर श्वेत हिम-राशि को देख कर आप ही आ कर मुझसे कहा—यहाँ जब इतनी बर्फ है, तो ला पर तो और भी होगी। और अभी हिम-वर्षा हो ही रही है; इसलिये हमें लप्-ची जाने का इरादा छोड़ देना चाहिए। मैं तो यह चाहता ही था। अन्त में कुशोक् से कह कर हमने बिदाई ली। उन्हें तो लप्-ची जाना था। अब फिर मुझे अपना बोझा लादना पड़ा। रास्ता बर्फ से ढँक गया था, दून के सहारे अन्दाज से हम लोग नीचे की ओर उतर रहे थे। उतराई के साथ साथ बर्फ की तह भी पतली होती जा रही थी। अन्त में बर्फ-रहित भूमि आ गयी। अब बर्फ की जगह छोटी छोटी जल की बूँदें बरस रही थीं। दस बजे के करीब भीगते भागते हम दोनों फिर टशी-गङ् में पहुँचे। आसन गोबा (=मुखिया) के घर में लगाया। मुखिया ने अगले पड़ाव तक के लिए बोझा ले चलने वाले आदमी का प्रबन्ध कर देने को कहा। इस प्रकार २ जून को टशी-गङ् में ही रह जाना पड़ा। हम दोनों के जूते का तला फट गया था इसलिये मुखिया के लड़के से कुछ पैसा देकर नया चमड़ा लगवाया। दिन को चमरी की छाछ में सत्तू मिला कर खाया तथा चाय पी, रात को भेड़ की चर्बी डाल कर सुमति प्रज्ञ ने थुक्-पा तैयार किया। पीछे मालूम हुआ कि कुशोक् की

पार्टी के कुछ लोग रास्ता न पा बर्फ की चका-चौंध से अन्धे हो कर लौट आये। सुमति प्रज्ञ ने कहा—हम लोगों की भी यही दशा हुई होती, यदि आगे गये होते।

§ ५. थोङ्-ला पार कर लङ्कोर में विश्राम

चाय-सत्तू खा कर, आदमी के ऊपर सामान लाद ३ जून को सात-आठ बजे के करीब हम रवाना हुए। रास्ता उतराई और बराबर का था; उस पर मैं बिलकुल खाली, और सुमति-प्रज्ञ का बोझा भी हल्का था। आदमी के लिए एक-डेढ़ मन बोझा तो खेल सा था। आगे चल कर कोसी के बायें किनारे मुख्य रास्ता भी आ मिला। ग्यारह बजे के करीब हम तग्यें-लिङ् गाँव में पहुँच गये। सुमति प्रज्ञ चौथी बार इस रास्ते से लौट रहे थे। इसलिए रास्ते के पड़ावों पर जगह जगह उनके परिचित आदमी थे। यहाँ भी मुखिया के घर में ही हमने आसन लगाया। गृह-पत्नी पचास वर्ष के ऊपर की एक बुढ़िया थी, किन्तु गृह-पति उससे बहुत कम उम्र का था। तिब्बत में ऐसा अकसर देखने में आता है। मुझे तो पहले उनका पति-पत्नी का सम्बन्ध ही नहीं मालूम हुआ। जब गृहपति ने गृह-पत्नी के बालकों को खोल दिया, और उनके धोये जाने पर चाङ् प्रदेश के धनुपाकार शिरोभूपण को केशों में सँवारने में मदद दी, तब पूछने पर असल बात मालूम हुई।

सुमति-प्रज्ञ वैद्य तान्त्रिक और रमल फेंक कर भाग्य बतलाने वाले थे। चाय पी कर वह गाँव में घूमने गये। थोड़ी देर में

आकर उन्होंने मुझे साथ चलने के लिए कहा। पूछने पर मालूम हुआ कि वे पचास वर्ष की एक धनाढ्य बाँझ स्त्री को सन्तान होने के लिए यन्त्र देने जा रहे हैं। उनको भोटिया अक्षर लिखना नहीं आता था। इसलिए मेरी जरूरत पड़ी। मैं सुन कर हँसने लगा। मैंने कहा—बुढ़िया पर ही आपको अपना यन्त्र आजमाना है? उन्होंने कहा—वहाँ मत हँसना, धनी स्त्री है, कुछ सत्तू-मक्खन मिल जायगा; और जो कहीं तीर लग गया, तो आगे के लिए एक अच्छा यजमान हो जायगा। मैंने कहा—तीर लगने की बात तो जाने दीजिये; हाँ! तत्काल को देखिये। घर के दर्वाजे के भीतर गये। लोहे की जञ्जीर में बँधा खूँख्वार महाकाय कुत्ता ऊपर टूटने लगा। ख़ैर! घर का छोटा लड़का अपने कपड़े से कुत्ते का मुँह ढाँक कर बैठ गया, और तब हम सीढ़ी पर चढ़ने पाये। सुमति-प्रज्ञ ने गृहपत्नी को औषध यन्त्र और पूजा मन्त्र दिया। गृह-पत्नी ने दो सेर सत्तू कुछ चर्बी और चाय दी। वहाँ से लौट कर हम अपने आसन पर आये।

दूसरे दिन सबेरे आदमी के साथ आगे चले। यहाँ गाँवों के पास भी वृक्ष न थे। खेत अभी अभी बोये जा रहे थे। लाल ऊन के गुच्छों से सुसज्जित बड़े बड़े चमरों के हल खेतों में चल रहे थे। कहीं कहीं हलवाहे गीत भी गा रहे थे। दोपहर के करीब हम या-लेप् पहुँचे। या-लेप् से थोड़ा नीचे पुरानी नमक की सूखी झील है। या-लेप् में पुराना चीनी किला है। थोड़ी दूर पर नदी के दूसरे किनारे पर भी कची दीवारों का एक टूटा किला है। चीन के

प्रभुत्व के समय या-लेप् के किले में कुछ पल्टन रहा करती थी। कुछ सर्कारी आदमी रहते तो आज भी हैं, किन्तु किला श्रीहीन मालूम होता है। घर और दीवार बेमरम्मत से दिखाई पड़ते हैं। एक परिचित घर में सत्तू खाया और चाय पी। सुमति-प्रज्ञ ने गृह-पत्नी को बुद्ध-गया की प्रसादी—कपड़े की चिट—दी। लम्-यिक् (=राहदारी) यहाँ ले लिया जाता है, आगे उसकी खोज नहीं होती, इसलिए एक आदमी को ठिकाने पर पहुँचाने के लिए कह कर दे दिया। गाँव से बाहर निकलते ही एक बड़ा कुत्ता हड्डी छोड़ कर हमारी ओर दौड़ा। इन अत्यन्त शीतल स्थानों के कुत्तों को जाड़े में लम्बे बालों की जड़ में मुलायम पशम उग आती है; जिसमें उन पर सर्दी का प्रभाव नहीं होता। गर्मी में यह पशम बालों से साँप की केचुल की भाँति निकल निकल कर गिरने लगती है। आजकल गर्मी की वजह से उसकी भी पशम की छल्ला गिर रही थी। खैर हम लोग तीन थे। कुत्ते से डर ही क्या? या-लेप् से प्रायः तीन मील आगे जाने पर ले-शिङ् डोल्मा गुम्बा नामक भिक्षुणियों का विहार दाहिनी ओर कुछ हट कर दीख पड़ा। अब नदी की धार बहुत ही क्षीण हो गयी थी। थोड़ा आगे जा कर नदी को पार कर हम दूसरे किनारे से चलने लगे। यहाँ दूर तक जोते हुए खेत थे; जिनमें छोटी छोटी नहरों द्वारा नदी का सारा पानी लाया जा रहा था। कुछ दूर और आगे जा कर हम गो-लिङ् गाँव में पहुँचे। गाँव में बीस पचीस घर हैं। यह स्थान समुद्र-तल से तेरह-चौदह हजार फुट से कम ऊँचा न होगा। तर्यें-

लिङ् से यहीं तक के लिए आदमी किया था। पहले वह अपने परिचित घर में ले गया। जब कभी राज-कर्मचारी तथा दूसरे बड़े आदमी आते हैं वे इसी घर में ठहराये जाते हैं। हमें यह सुनसान बड़ा घर पसन्द न आया। अन्त में सुमति-प्रज्ञ अपने परिचित के घर ले गये। यह गाँव के बीच में था। कुछ स्त्री-पुरुष धूप में बैठे ताना तनते, और सूत कातते थे। सुमति-प्रज्ञ ने जाते ही जू-दन्ज़ (आगन्तुक का सलाम) किया। उनके परिचित कई आदमी निकल आये। अन्त में एक घर में हमारा आसन लगा। घर दो-तल्ला था। चारों ओर कोठरियाँ थीं। धुँआ निकलने के लिए मट्टी की छत में बड़ा छेद था।

सुमति-प्रज्ञ ने चाय निकाल कर गृह-पत्नी को पकाने को दी। गृह-पत्नी के मुँह-हाथ पर तेल मिले काजल की एक मोटी तह जमी हुई थी, वही हालत उनके ऊनी कपड़ों की भी थी। उन्होंने झट उसे कई मुँहों के चूल्हे पर पानी डाल कर चढ़ा दिया, और भेड़ की लेंड़ी झोंक कर भाथी से आग तेज करना शुरू किया। चाय खौलने लगी। तब उस में ठण्डा पानी मिलाया गया। लकड़ी के लम्बे पोंगे में चाय का पानी डाल कर नमक डाला; फिर सुमति-प्रज्ञ ने एक लोंदा मक्खन का दिया। मक्खन डाल कर आठ-दस बार मथनी घुमाई गयी, और चाय मक्खन सब एक हो फेन फेंकने लगा। वस्तुतः यह चाय मथने की एक दो-ढाई हाथ लम्बी पिच-कारी सी होती है जिसका एक ही ओर का खुला हिस्सा ढक्कन से बन्द रहता है। मथनी को नीचे ऊपर खींचने से हवा भीतर जाती

है, उससे और पिचकारी की भीतरी गोल चिप्पी से भी चाय और मक्खन जल्द एक हो जाते हैं।

यहाँ से हमें थोङ्-ला (=थोङ् नामक घाटा) पार करना था। आदमी ले चलने की अपेक्षा दो घोड़े लेना ही हम ने पसन्द किया। यहाँ से लङ्-कोर के लिए अठारह टङ्के (=दो रुपये) पर हमने दो घोड़े किराये पर किये। दूसरे दिन आदमी के साथ घोड़े पर सवार हो हम आगे चले। इस बहुत ही विस्तृत वन मे—जिसके दोनों ओर वनस्पति-हीन अधिकतर मिट्टी से ढँके पर्वतों की छोटी शृङ्खला थी—कोसी की क्षीण-धारा धीमी गति से बह रही थी। रास्ते में कई जगह हमें पुराने उजड़े घरों और ग्रामों के चिह्न मिले। कुछ की दीवारें तो अब भी खड़ी थीं। मालूम होता है, पहले यह दून बड़ी आबाद थी। तब तो कोसी की धार भी बड़ी रही होगी, अन्यथा इन विस्तृत खेतों को वह सींच कैसे सकती ? गाँव में सुना था कि पिछले साल थोङ्-ला के रास्ते में दो यात्रियों को किसी ने मार डाला। भोट में आदमी की जान कुत्ते की जान से अधिक मूल्यवान् नहीं। राज-दण्ड के भय से किसी की रक्षा नहीं हो सकती। सुमति-प्रज्ञ इस विषय में बहुत चौकन्ने थे।

ज्यों ज्यों हम ऊपर जा रहे थे, वैसे वैसे दून सँकरी होती जाती थी। अन्त में हम लहूर्से (=ला के नीचे खान-पान करने के पड़ाव) पर पहुँचे। कुछ लोग पहले ही "ला" के उस पार से इधर आकर वहाँ चाय बना रहे थे। भोट में माथी अनिवार्य चीज

है। उसके बिना कण्डों और भेड़ की लेंड़ियों से जल्दी खाना नहीं पकाया जा सकता; बाज वक्त तो कण्डे गीले मिलते हैं, जो भाथी के सहारे ही जलाये जा सकते हैं। हमारे पास भाथी न थी, इसलिए हमने अपनी चाय भी दूसरों की चाय में मिला दी। फिर घोड़ों को तो थोड़ा चरने के लिए छोड़ दिया गया, और हम लोग चाय पीने और गप करने में लग गये। मालूम हुआ, ला पर बर्फ नहीं है। इन आये हुए लोगों का मुँह पुराने ताँबे का सा हो गया था। तिब्बत में (ज़ोत ला) पार करते समय शरीर का जो भी भाग ख़ूब अच्छी तरह ढँका नहीं रहेगा, वही काला पड़ जायेगा; और यह कालापन एक-डेढ़ हफ़्ते तक रहता है।

चाय पीने के बाद हम लोग फिर घोड़े पर सवार हुए। अब चढ़ाई थी, तो भी कड़ी न थी, या यह कहिये कि हम दूसरों की पीठ पर सवार थे। आगे चल कर घाटी बहुत पतली हो गयी। वह नदी की धार-मात्र रह गयी, जिस में जगह जगह और कहीं कहीं लगातार पुराने बर्फ की सफ़ेद मोटी तह जमी हुई थी। हमारा रास्ता कभी नदी के इस पार से था, कभी उस पार से। फिर धार छोड़ कर दाहिनी ओर तिर्छी पहाड़ी पर भूल-भुलइयाँ करते हम चढ़ने लगे। घोड़े रह रह कर अपने आप रुक जाते थे, जिससे मालूम होता था कि हवा बहुत हल्की है। अन्त में हमें काले पीले सफ़ेद कपड़ों की झण्डियाँ दिखाई पड़ीं। मालूम हुआ ला का शिखर आ गया। भोट में हर ला का कोई देवता होता है। उसके पास आते ही लोग घोड़े पर से उतर जाते हैं, जिस में देवता

नाराज न हो जाय। हम भी उतर गये। सुमति-प्रज्ञ और दूसरे भोटियों ने "शो शो शो" कह देवता की जय मनीयी। इस ला पर खड़े हो हमने सुदूर दक्षिण ओर दूर तक हिमाच्छादित पहाड़ों को देखा, यही हिमालय है। और तरफ भी पहाड़ ही पहाड़ देखे, किन्तु उन पर बर्फ न थी। दूसरी ओर की दून में अवश्य कहीं कहीं थोड़ी बर्फ देखी। यहाँ अब उतराई शुरू हुई। मेरा घोड़ा सुस्त था, और मैं मार न सकता था, इसलिए मैं थोड़ी ही देर में पिछड़ गया। सुमति-प्रज्ञ दूसरे भोटियों के साथ आगे बढ़ गये। रास्ते में आदमी भी न मिलता था, इस प्रकार धीरे धीरे चलते, कभी कभी आस पास की बस्तियों में पूछते, उन लोगों के पहुँचने के तीन घण्टे बाद चार बजे मैं लङ्कोर पहुँचा। यह कहने की जरूरत नहीं कि सुमति-प्रज्ञ बहुत खफा हुए।

§ ६ लंकोर-तिङ्-री

लंकोर एक छोटा सा गाँव है, जो कि तिङ्-री के विशाल मैदान के सिरे पर बसा हुआ है। लङ्-कोर की गुम्बा (=विहार) बहुत प्रसिद्ध थी। तन्जूर[1] की कुछ पुस्तकों का यहाँ संस्कृत से भोट भाषा में अनुवाद किया गया था। गाँव के पास के पहाड़ पर अब भी पुराने मठ की दीवारें खड़ी देख पड़ती हैं। यह विहार

---

१. [कंजूर बौद्ध त्रिपिटक का तिब्बती अनुवाद; तंजूर = कंजूर से सम्बद्ध या उसकी व्याख्या आदि के ग्रंथों का संग्रह।]

पहले गोर्खा-भोट युद्ध में गोर्खों द्वारा लूटा और उजाड़ा गया; तब से फिर आबाद न हो सका। पुराने भिक्षुओं के वंशज अब भी लंकोर गाँव में हैं। इन्होंने एक छोटा मन्दिर भी बनवाया है। ये भोट के सब से पुराने बौद्ध सम्प्रदाय निङ्-मा-पा (=पुरातन) के अनुयायी हैं जिसका आरम्भ आठवीं शताब्दी में हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी में कर्-ग्युर्-पा सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ; तेरहवीं में सक्या-पा का, और सोलहवीं में गेलुक्-पा का। यही चार तिब्बत के प्रधान बौद्ध संप्रदाय हैं। छः जून को भी सुमति-प्रज्ञ यहीं रहे। पूछने पर उन्होंने अपनी कठिनाई कही, कि हमको इस यात्रा में कुछ जमा भी करना पड़ता है, नहीं तो ल्हासा में जाकर खायेंगे क्या? इस पर मैंने कहा—यदि आप जल्दी ल्हासा चलें, और रास्ते में देरी न करें, तो मैं आप को ल्हासा में पचास टङ्का दूँगा। उन्होंने इसे स्वीकार किया।

दूसरे दिन सात जून को चलना निश्चय हुआ। आदमी की इन्तजार में दोपहर हो गयी, आखिर आदमी मिला भी नहीं। लङ्कोर से हमने अपने साथ कुछ सूखा मांस और कुछ मक्खन ले लिया। दोपहर के बाद मैंने बोझा पीठ पर उठाया और दोनों आदमी चले। लङ्कोर से तिङ्-री चार-पाँच मील से कम नहीं है लेकिन देखने में पूर्व और तिङ्-री का किला बहुत ही पास मालूम होता था। इसका कारण हवा का हल्कापन हो सकता है। यद्यपि यह मैदान समुद्र-तल से चौदह हजार फीट से अधिक ऊँचाई पर है, तो भी निखरी धूप में चलते हुए हमें बहुत गर्मी मालूम हो

रही थी। मैदान में जहाँ तहाँ कुश की तरह छोटी छोटी घास भी उगी हुई थी। चरने वाले जानवरों में भेड़ बकरी और गाय क अतिरिक्त कहीं कहीं जङ्गली गदहे (=क्याङ्) भी थे। इधर के कुत्ते बहुत बड़े और खूँ-ख्वार थे। मैं गाँव में जाने से बराबर परहेज़ किया करता था। धूप में प्यास लग आयी। सुमति-प्रज्ञ ने चाय पीने की सलाह की। आगे हमें छोटा सा गाँव मिला। घर छोटे छोटे थे। एक गरीब बूढ़ा हमें अपनी झोपड़ी में ले गया। वहाँ चाय बनने लगी। बूढ़े ने मेरे साथी से और सब बातें पूछते पूछते सङ्-ग्ये ओपा-मे (अमिताभ बुद्ध) के बारे में भी पूछा। भोटिया लोग टशी लामा को अमिताभ बुद्ध का अवतार मानते हैं, इसलिए उन्हें अमिताभ भी कहते हैं। जब उसने सुना कि वे चीन में हैं और अभी उनके लौटने की कोई आशा नहीं है, तो उसने बड़े करुण स्वर से कहा—क्या "सङ्-ग्ये ओपा मे" फिर भोट न आयेंगे ? साधारण भोटियों में ऐसे सरल विश्वास वाले लोग बहुत हैं। अजनबियों को देखकर कुत्तों ने आकर दर्वाजा घेर लिया। गृहपति ने उन्हें डण्डा लेकर दूर भगाया।

चाय पीते हुए सुमति-प्रज्ञ ने कहा—पास के गाँव में शेकर्-विहार की खेती होती है। उसके प्रधान भिक्षु नम्-से मेरे परिचित हैं, वहाँ चलने से रास्ते के लिए थोड़ा मांस-मक्खन भी मिल जायगा। वहाँ से बोझा ढोने के लिए आदमी के मिल जाने की भी आशा है। अन्तिम बात मेरे मतलब की थी। इसलिए मैं भी गे-लोङ् (= भिक्षु) नम्-से के पास जाने के लिए राजी हो

गया। चाय पीने के बाद हम गे-लोड् नम-से के मठ की ओर चले, जो कि गाँव से दिखलाई देता था। कुत्तों से बचाने के लिए बेचारा बूढ़ा पानी की धार तक हमारे साथ आया गे लोड् नम् से के मठ के चारों ओर भी तीन-चार कुत्ते बँधे हुए थे। दूर से ही हमने आवाज़ दी। एक आदमी आया और कुत्तों से हमारी रक्षा करते हुए घर पर ले गया। गे-लोड नम्-से ने खिड़की से झाँक कर देखा और कहा—आ हो! सोग्-पो (=मंगोल) गे-लोड् (=भिक्षु) हैं। हम लोगों ने अपना आसन नीचे रसोई के मकान में लगाया। चाय और सत्तू का बर्तन सामने रखा गया। सत्तू खाने की तो मुझे इच्छा न थी, मैंने केवल चाय पी। थोड़ी देर हम वहीं बैठे। यहाँ शेकर् गुम्बा की जागीर है जिसमें खेती भी होती है। इस समय मुनीम साहब हिसाब लगा रहे थे। देखा—हड्डी और पत्थर के टुकड़ों को गिन गिन कर हिसाब लगाया जा रहा है। फिर गिन गिन कर उन टुकड़ों को अलग अलग बर्तनों में रखा जा रहा है। हम लोग जरूर उनकी इस गिनती पर हँसेंगे, किन्तु मुझे यह भी विश्वास है कि उनके हिसाब के तरीके को सीखने में भी हमें कुछ समय लगाना पड़ेगा।

चाय पीने के बाद हम कोठे पर गे-लोड् नम्-से के पास गये। नम्-से बड़े प्रेम से मिले। अभी वे विशेष पूजा में लगे हुए थे। उनके पूजा के कमरे में मूर्त्तियाँ और सत्तू-मक्खन के तोर्मा (=बलि-पिण्ड) बड़ी सुन्दरता से सजाये गये थे। उन्होंने फिर चाय पीने का आग्रह किया। गङ्गा-जमुनी प्याला-दान पर असली

चीन का प्याला रखा गया। मुझे थोड़ी चाय पीनी पड़ी। सुमति-प्रज्ञ ने कहा—आप दो-तीन दिन यहाँ ठहरें, मैं पास के गाँवों में अपने परिचितों से मिलना चाहता हूँ। हमारा आसन कंजूर के पुस्तकालय में लगाया गया। यहाँ एक पुराना हस्त-लिखित कंजूर है। मैंने उसे खोल कर जहाँ तहाँ पढ़ना शुरू किया। कंजूर में एक सौ से अधिक वेष्टन हैं। इसका हर एक वेष्ठन दस सेर से कम न होगा। सुमति-प्रज्ञ ने पूछा, यदि इसे तुमको दे दिया जाय, तो तुम इसे ले जाओगे? मैंने कहा—बड़ी ख़ुशी से।

दूसरे दिन सुमति-प्रज्ञ तो गाँवों की ओर चले गये, और मैं वहाँ बैठा पुस्तक देखने लगा। दोपहर तक वह लौट आये और कहा—अब आगे चलना है। उसी दिन (आठ जून को) दोपहर के बाद हम वहाँ से तिङ्-री की ओर चले जिसका फासला दो मील से कम ही था। सुमति-प्रज्ञ ने कहा—पुराना जोङ्-पोन् (=ज़िलाधीश) मेरा परिचित है, उसी के घर ठहरेंगे। मैंने बहुतेरा विरोध किया, लेकिन उन्होंने कहा—कोई डरने की बात नहीं है, यहाँ कोई आपको ग्य-गर्-पा (=भारतीय) नहीं समझेगा। तिङ्-री आस पास के पर्वतों से अलग एक छोटी पहाड़ी है। इसके ऊपर एक किला है, जो अब बे-मरम्मत है। थोड़ी सी पल्टन अब भी इसमें रहती है। इसी पर्वत के मूल में तिङ्-री कस्बा बसा हुआ है। यह कुत्ती से बड़ा है। पुराने चीनियों की कुछ सन्तान अब भी यहाँ वास करती है। नेपालियों की दूकानें यहाँ नहीं हैं। पुराने जोङ्-पोन् का मकान बस्ती के एक

किनारे पर था। हम लोग उनके मकान में गये। सुमति-प्रज्ञ को देखते ही वह आगे बढ़कर पीठ से बोझा उतारने लगे। पीछे नौकरों ने आकर हमारा बोझा उतार कर अलग रखा। वहीं आँगन में कालीन बिछाया गया। झट चाय और तश्तरी में सूखा मांस चाकू के साथ आ गया। मेरे बारे में उन्होंने पूछा—यह तो लदा-पा (=लदाख-वासी) हैं न ? अपने हाथ से सूखा मांस काट कर वे देने लगे। मैंने लेने से इनकार किया। सुमति-प्रज्ञ ने कहा—अभी नये देश से आये हैं; लदाख में बिना उबाला मांस नहीं खाते। चाय-पान के समाप्त होने पर नया ज्वोङ्-पोन् भी आ गया। उसके लिए चाँदी के प्याले में शराब लायी गयी। मेरे लिए भला किसको सन्देह हो सकता था कि यह उन्हीं भारतीयों में है, जिसके अनेक बन्धुओं ने भोटियों के आतिथ्य का दुरुपयोग और उनके साथ विश्वास-घात कर अङ्गरेजों को भोट की राजनीतिक गुप्त स्थितियों का परिचय कराया; जिस कारण भोटियों को अब अपने सब से अधिक माननीय देश के आदमियों से ही सब से अधिक आशङ्कित रहना पड़ता है !

हमारे गृहपति बड़े रँगीले थे। सन्ध्या होते ही प्याले पर प्याला ढालने लगते थे। कहते हैं, इसी के कारण उन्हें नौकरी से अलग होना पड़ा। अँधेरा होते ही, वीणा बजाते पत्नी-सहित मित्रगोष्ठी की ओर चले। नौकरों को हमारे आसन और भोजन का प्रबन्ध करने के लिए आदेश दिया। हमारा आसन रसोई-घर में लगा। रसोई का काम एक अनी (=भिक्षुणी) के सुपुर्द था।

दम्पति

किनारे पर था। हम लोग उनके मकान में गये। सुमति-प्रज्ञ को देखते ही वह आगे बढ़कर पीठ से बोझा उतारने लगे। पीछे नौकरों ने आकर हमारा बोझा उतार कर अलग रखा। वहीं आँगन में कालीन बिछाया गया। झट चाय और तश्तरी में सूखा मांस चाकू के साथ आ गया। मेरे बारे में उन्होंने पूछा—यह तो लदा-पा (=लदाख-वासी) हैं न ? अपने हाथ से सूखा मांस काट कर वे देने लगे। मैंने लेने से इनकार किया। सुमति-प्रज्ञ ने कहा—अभी नये देश से आये हैं; लदाख में बिना उबाला मांस नहीं खाते। चाय-पान के समाप्त होने पर नया जोङ्-पोन् भी आ गया। उसके लिए चाँदी के प्याले में शराब लायी गयी। मेरे लिए भला किसको सन्देह हो सकता था कि यह उन्हीं भारतीयों में है, जिसके अनेक बन्धुओं ने भोटियों के आतिथ्य का दुरुपयोग और उनके साथ विश्वास-घात कर अङ्गरेजों को भोट की राजनीतिक गुप्त स्थितियों का परिचय कराया; जिस कारण भोटियों को अब अपने सब से अधिक माननीय देश के आदमियों से ही सब से अधिक आशङ्कित रहना पड़ता है !

हमारे गृहपति बड़े रँगीले थे। सन्ध्या होते ही प्याले पर प्याला ढालने लगते थे। कहते हैं, इसी के कारण उन्हें नौकरी से अलग होना पड़ा। अँधेरा होते ही, वीणा बजाते पत्नी-सहित मित्रगोष्ठी की ओर चले। नौकरों को हमारे आसन और भोजन का प्रबन्ध करने के लिए आदेश दिया। हमारा आसन रसोई-घर में लगा। रसोई का काम एक अनी (=भिक्षुणी) के सुपुर्द था।

दम्पति

भोट में सभी भाइयों के बीच एक ही स्त्री होती है; इसीलिए सभी लड़कियों को पति नहीं मिल सकते और कितनी ही लड़कियाँ बाल कटा कर अनी बन या तो गुम्बा (=मठ) में चली जाती हैं या घर में ही रह जाती हैं। यह अनी तो साक्षात् महाकाली थी। काले काजल की इतनी मोटी तह शरीर पर जमी न मैंने पहले देखी थी, न उसके बाद ही देखी थी, उस काले मुखमण्डल पर आँखों की सफेदी तथा आँख के कोरों की ललाई साफ दिखलाई देती थी। उसने थुक्पा बनाया। फिर कड़छी से हाथ पर चख कर नमक की परख की और हाथ को अपने चोगे में पोंछ लिया। खैरियत यही है कि तिब्बत में भोजन-सामग्री का उलटना-पलटना सब चम्मच और कड़छी के सहारे होता है। हाथ का सीधा छूना बहुत कम होता है। थुक्पा-चाय पीते नौ-दस बज गये। तब गृहपति चीणा बजाते लौटे। हम लोगों के खाने-पीने के बारे में पूछा। सुमति-प्रज्ञ ने ल्हासा चलने को कहा। उन्होंने कहा—क्या करें! चाम् (=चाम-कुशोक =उच्च श्रेणी की महिला) नहीं जाती है। मेरे ल्हासा में रहते वक्त भोटिया नव-वर्ष के समय ये दम्पती ल्हासा पहुँचे थे। वहाँ पर मामूली कपड़ों में थे और मैं लाल रेशम को साट कर बनाये हुए पोस्तीन तथा बूट पहिने था। मैंने पहचान लिया और उन्होंने भी मुझे पहचान लिया। उस वक्त फिर उन्होंने मुझे लदाखी कहा। मैंने तब सब बात कह दी और साथ ही उनके सद्-व्यवहार के लिए बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। ल्हासा में बहुधा लोगों को अपनी

हैसियत से कम की वेश-भूषा में रहना होता है, जिसमें कहीं अधिकारियों की दृष्टि उनके धन पर न पड़े। तिङ्-री में इन्होंने अब कई खच्चर पाल लिये हैं और कुत्ती तथा ल्हासा के बीच व्यापार करते हैं।

दूसरे दिन हमने चलने के लिए कहा। गृहपति ने और दो-चार दिन रहने का आग्रह किया। लेकिन जब हम रुकने के लिए तैयार न हुए तो उन्होंने कुछ सूखा मांस चर्बी सत्तू और चाय रास्ते के लिए दी। सवेरे नाश्ता करके हम तिङ्-री से चले। यहाँ भी कोई आदमी बोझा ले जाने वाला न मिल सका। इस लिये मुझे अपना असबाब पीठ पर लादना पड़ा। रास्ता चढ़ाई का न था। हम फुङ् नदी के दाहिने किनारे पूर्व की ओर चल रहे थे। यहाँ आस-पास के पहाड़ बहुत छोटे छोटे हैं। घण्टों चलने के बाद हमें नदी की बाईं ओर शिव्-री का पहाड़ दिखाई पड़ा। जहाँ तिब्बत के और पहाड़ अधिकतर मिट्टी से ढँके रहते हैं वहाँ इस पहाड़ में पत्थर ही पत्थर मिलता है। इस विशेषता के कारण कहावत है कि यह पहाड़ भोट का नहीं है, ग्य-गर (=भारत) का है। यह भोट देश में बहुत ही पवित्र माना जाता है। आजकल इसकी परिक्रमा का समय था। इसकी परिक्रमा में चित्रकूट की परिक्रमा की भाँति जगह जगह अनेक मन्दिर हैं। कितने ही लोग साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए परिक्रमा करते हैं। आठ बजे से चलते-चलते दोपहर के बाद हमें गाँव मिला। वहाँ हम चाय पीने लगे। थक तो मैं ऐसे ही गया था; चाय पीते और गप

करते देर हो गयी। यह भी मालूम हुआ कि अगला गाँव बहुत दूर है, इस लिए हम वहीं रह गये। सन्ध्या समय गृहस्वामी ने कहा—यहाँ जगह नहीं है। गाँव के मध्य में एक खाली घर है, आप वहाँ जायँ। इस पर हम लोग वहाँ चले गये। मकान में दो कोठरियाँ थीं। एक में कोई बीमार भिखमङ्गा था, एक में हम ने आसन लगाया। अँधेरा होते होते सुमति-प्रज्ञ ने कहा—हमारा यहाँ रहना अच्छा नहीं। गाँव में बहुत चोर हैं। धन के लोभ से रात को हम पर हमला होगा। क्या जानें इसी ख्याल से उसने अपने घर से सूने घर में भेजा है। मैंने उनके वचन का विरोध नहीं किया। उन्होंने जाकर एक बुढ़िया के घर में रहने का प्रबन्ध किया और हम अपना आसन वहाँ उठा ले गये। बुढ़िया के घर में दो और मेहमान ठहरे हुये थे। वे लोग शिव्-री की परिक्रमा कर के आये थे। उन्होंने अबकी साल बहुत भीड़ बतलाई। सुमति-प्रज्ञ का मन परिक्रमा करने के लिये ललचाने लगा। मैंने कहा—अबकी बार ल्हासा चलें, अगले साल हम दोनों आयेंगे। उस वक्त कोई चिन्ता भी यात्रा करने में न होगी। मैंने वहीं कुछ पैसे उनमें से एक को दिये कि वह इन्हें हमारी ओर से शिव्-रो-रेन्-पो-छे को चढ़ा दे। इसी गाँव में हमने एक बहुत सुन्दर वज्र-योगिनी की पीतल की मूर्ति देखी। मालूम हुआ कि अङ्ग्रेजों के साथ जो लड़ाई हुई थी उसमें जब लोग इधर उधर भाग रहे थे, तो इस गाँव के किसी सिपाही ने इसे अपने कब्जे में

रामोदार और सुमतिप्रज्ञ

के लिए कहा। बेचारे समझते थे कि मुझे भी अपने डील-डौल के मुताबिक बोझा ले चलना चाहिए। उन्हें क्या पता था कि इतने ही बोझे से मुझ पर कैसी बीत रही है। सत्तू आखिर यहीं छोड़ना पड़ा जिसके लिये वे बहुत ही कुपित हुए। वहाँ से चल कर हम चा-कोर के पास पहुँचे। चा-कोर के पास के पहाड़ पर अब भी पुराने राज्य-प्रासाद की दीवारें हैं। इसके ऊपरी भाग पर पत्थर जोड़ कर किला भी बना था। देखने से मालूम होता है चा-कोर का राज-वंश किसी समय बड़ा प्रभावशाली रहा होगा। किले के पहले ही हमें कुछ टूटी फूटी मिट्टी की दीवारें मिलीं। मालूम हुआ पहले यहाँ चीनी फौज रहा करती थी। यहाँ घड़ा कड़ा पहरा रहता था। बिना आज्ञा-पत्र के कोई पार नहीं हो सकता था। चा-कोर गाँव की कुछ इमारतें भी बतलाती हैं कि यह दिन पर दिन अवनति को प्राप्त होता गया है। यहाँ सुमति-प्रज्ञ का परिचित पुरुष तो घर पर नहीं मिला, किन्तु किसी प्रकार बहुत कहने-सुनने पर हमें रहने की जगह मिली। सन्ध्या के पहले कुछ छोटे छोटे ओले पड़े और फिर खूब वर्षा भी हुई। बाहर के आँगन में पानी भर गया और मिट्टी की छत भी जहाँ तहाँ टपकने लगी। शाम को घर की बुढ़िया भी आ गयी। वह सुमति-प्रज्ञ को जानती थी। सुमति-प्रज्ञ मुझसे बहुत चिढ़े थे, इसलिये बुढ़िया से मेरी निन्दा भी करते रहे। मैंने उस का ख्याल भी न किया। मैं इतना अच्छी तरह जानता था कि वह दिल के अच्छे आदमी हैं।

ग्यारह जून को सबेरे ही हम चले। थोड़ी दूर पूर्व ओर चल

कर हमने फुङ् नदी पार की। धार काफ़ी चौड़ी तथा जाँघ भर गहरी थी। मालूम होता था, पानी की ठण्डक में जाँघ कट कर गिर जायगी। बड़ी तकलीफ के साथ धार पार की। धार पार कर भेड़ों के चरवाहों के पास जाकर चाय पी और फिर आगे बढ़े। इधर मुझे बोझा लेकर चलना पड़ रहा था। सत्तू से मुझे स्वभावतः रुचि नहीं है। दूसरी चीज़ पेट भर खाने के लिए प्राप्त नहीं हो रही थी, इसलिये शरीर कमज़ोर हो गया था। रास्ते में एक जगह और हमने चाय पी। उस समय लङ्-कोर के कुछ आदमी शे-कर्-जोङ्को जा रहे थे। हम भी उनके साथ हो लिये। मैं इस वक्त हिम्मत पर ही चल रहा था। रास्ते में दो छोटी छोटी जोतें (=ला) मिलीं। दूसरी जोत को पार करते करते मैं चलने में असमर्थ हो गया। आख़िर लङ्-कोर वाले एक आदमी ने मेरा बोझा लिया। खाली चलने में मुझे कोई कठिनाई न थी। पहाड़ से उतर कर हमने एक छोटी सी धार पार की। मालूम हुआ, अगले पतले पहाड़ की आड़ में शे-कर्-जोङ् है। थोड़ी देर एक जगह विश्राम कर हम फिर चले, और तीन-चार बजे के करीब शे-कर् पहुँच गये।

§ ७. शे-कर् गुम्बा

शे-कर् में जहाँ लङ्-कोर वाले लोग उतरे, वहीं हम भी उतर गये। यह एक भूतपूर्व भोटिया फौज के सिपाही का घर था। सुमति-प्रज्ञ का परिचित भिक्षु भी शेकर्-गुम्बा में था, लेकिन वे

वहाँ नहीं गये। इस समय मेरा पैर भी फूट गया था। आगे बोझा ढोकर चलने की हिम्मत भी न थी। यहाँ से टशी-रुहुन्पो तक का घोड़ा किराये पर लेने की बात की। उसी की इन्तजार में ग्यारह से चौदह जून के दोपहर तक यहाँ पड़े रहे, लेकिन कुछ न हो सका। आने के दिन ही हम शे-कर् मठ के अवतारी लामा का निवास देखने गये। मन्दिर बहुत सुन्दर मूर्तियों और चित्रपटों से सज्जित है। लामा इस समय यहाँ नहीं हैं। उनका निवास राज-प्रासाद की तरह सजा हुआ है। सामने सफेदा का एक छोटा बाग़ भी लगा है। गमलों में भी कितने ही फूल लगाये हुए हैं। तेरह जून को हम शे-कर्-गुम्बा देखने गये। गुम्बा बहुत भारी है। यहाँ पाँच-छः सौ भिक्षु रहते हैं। गुम्बा एक पहाड़ के नीचे से शिखर तक चली गयी है। मन्दिर भी बड़े बड़े सोने-चाँदी के दीपकों से प्रकाशित हो रहा था। सुमति-प्रज्ञ की यद्यपि इच्छा न थी, तो भी हम यहाँ के कु-शेग् खेम्बो (= प्रधान पण्डित) को देखने गये। कुछ बौद्ध दर्शन सम्बन्धी बात हुई। पीछे तन्त्र और विनय पर बात चली। मैंने कहा—जहाँ विनय मद्य-पान, जीव-हिंसा, स्त्री-संसर्ग आदि को वर्जित करता है, वहाँ तन्त्र (=वज्रयान) में इनके बिना सिद्धि ही नहीं हो सकती। यह दोनों साथ साथ कैसे चल सकते हैं ? उन्होंने कहा—यह भिन्न भिन्न अवस्था के लोगों के लिए हैं। जैसे रोगी के लिए वैद्य कितने खाद्यों को अ-खाद्य बतलाता है, लेकिन उसी पुरुष के नीरोग हो जाने पर उसके लिए वही भोजन-पदार्थ खाद्य हो जाते हैं, ऐसे ही

विनय साधारण जनों के लिए है और वज्रयान पहुँचे हुए लोगों के लिए। ये प्रधान पण्डित ल्हासा की सेरा गुम्बा के शिक्षित हैं तथा इनका जन्मस्थान चीन-सीमा के पास खाम् प्रदेश में है। उन्होंने ल्हासा जाने वाले व्यापारी से हम लोगों को अपने साथ ले जाने की सिफारिश की, और तैयार होकर गुम्बा में आने के लिए कहा। दूसरे दिन हम अपना सामान लेकर गुम्बा में आये, लेकिन मालूम हुआ कि सौदागर चला गया है। वहाँ से हम खचरवालों के पास गये; वहाँ भी कोई प्रबन्ध न देखा। अन्त में सुमति-प्रज्ञ ने लङ्-कोर के एक ढावा (=भिक्षु) को मुफ़ में ल्हासा का तीर्थ कराने का लालच दिया। वह साथ चलने के लिए तैयार हो गया।

१४ जून को दोपहर के बाद लङ्-कोर के आदमी को अपना बोझा दे हम रवाना हुए। नदी पार कर हमारा रास्ता नदी के बाये बायें नीचे की ओर चला, फिर दूसरी आने वाली धार के दाये किनारे से ऊपर की ओर। यह दून भी काफी चौड़ी थी। आगे नदी के किनारे कुछ छोटे छोटे वृक्ष भी दिखाई पड़े। खेतों में जौ-गेहूँ एक बालिश्त उग आये थे और उन्हें नहर के पानी से सींचा जा रहा था। चार बजे के क़रीब हम ये-रा में पहुँचे। यहाँ एक धनाढ्य गृहस्थ सुमति-प्रज्ञ का परिचित था। उसका घर गाँव से अलग है। मकान के चारों कोनों पर जञ्जीर में चार महाकाय काले कुत्ते बँधे हुए थे। दूर से आवाज देने पर एक आदमी आया। वह द्वार वाले कुत्ते को अपने कपड़े से छिपा कर बैठ गया, फिर हम भीतर गये। वहाँ पहुँचते ही लङ्-कोर वाला आदमी रोने

लगा—अपनी माता का मैं अकेला पुत्र हूँ, वह मर जायगी; ये भयङ्कर कुत्ते मुझे काट खायँगे! मैंने बहुत समझाया। असाध्य देख कर मैंने जाने देने के लिए कहा। सुमति-प्रज्ञ उसे धमका रहे थे। अन्त में मैंने उसे जाने देने के लिए जोर दिया। दिन थोड़ा था, इसलिये जल्दी में वह अपनी चीजों के साथ सुमति-प्रज्ञ की छः सात सेर सत्तू की थैली भी लेता गया। हम दोनों को गृह-स्वामी घर के भीतरी भाग में ले गया। वहाँ चाय पीते वक्त सत्तू निकालने लगे तो थैली ग़ायब थी। सुमति-प्रज्ञ वापिस जाने की तैयारी करने लगे। मैंने कहा—जाने दो, गया सो गया। सुमति-प्रज्ञ बोले—तुमने उस दिन का सत्तू भी नहीं लेने दिया, आज इस सत्तू के बारे में भी ऐसा ही कह रहे हो। मैंने कहा—उसको गये घण्टा भर हो गया है, उससे भेंट शे-कर् में ही हो सकेगी और वहाँ पहुँचने से पहले ही रात हो जायगी। हमारी बात सुन कर गृह-स्वामी ने पाँच-छः सेर सत्तू लाकर हमारे सामने रख दिया। मैंने कहा—लो, जितना गया उतना मिल गया। तब वह कुछ शान्त हुए। उस समय एक दर्जी उस घर में कपड़ा सी रहा था। पूछने पर मालूम हुआ, वह उसी गाँव का है जिस गाँव के मुखिया के नाम शे-कर् के ल्हेम्बो ने घोड़े का प्रबन्ध कर देने के लिए चिट्ठी दी थी। घर के मालिक से मालूम हुआ कि यहाँ आदमी या घोड़ा नहीं मिल सकता। आखिर हमने उसी दिन उस दर्जी के साथ उस गाँव में जाने का निश्चय किया। सूर्यास्त के समय हम उस घर से निकले। उस आदमी ने मेरा

आग्रह-पूर्वक स्वयं उठा लिया। कुछ रात जाते जाते हम उस गाँव में पहुँच गये और उसने हमें मुखिया के घर पहुँचा दिया। मुखिया को हमने चिट्ठी दी। उसने पढ़ कर कहा—घोड़ा तो इस समय नहीं है। मैं कल आदमी से आपको लो-लो पहुँचवा दूँगा और वहाँ से घोड़ा मिल जायगा।

दूसरे दिन बड़े सवेरे ही आदमी पर सामान रख कर हम चल पड़े। आठ बजे के करीब हम लो-लो पहुँच गये। गाँव तो बीस-पचीस घरों का मालूम होता है किन्तु लकड़ी के अभाव से मकान सभी छोटे छोटे हैं। आदमी ने हमें ले जाकर एक छोटे से घर में पहुँचा दिया और घर वाले को मुखिया का सन्देश कह सुनाया। चाय-पानी हो जाने पर उसने कहा कि घोड़ा मिल जायगा। ल्हर्से-जोङ् तक के लिए अठारह टङ्का लगेगा। यद्यपि वहाँ के हिसाब से यह अधिक था, तो भी मैंने स्वीकार कर लिया। वह घोड़ा लाने के लिए चरागाह की ओर गया और तीन बजे तक लौट आया। आने पर उसने कहा कि ल्हर्से में बहुत गर्मी है, घोड़ा वहाँ तक नहीं जा सकता। घोड़े का मालिक कहता है कि हम "चासा ला" पार करा एक दिन के रास्ते में इधर ही छोड़ देंगे। मैंने उसका पहला दाम एक ही बार में स्वीकार कर लिया था, पर अब इस तरह की बात देख कर अस्वीकार कर दिया। हमारा गृह-स्वामी पहले सैनिक रह चुका था। तिब्बत में छोटे भाई अलग शादी नहीं करते, लेकिन उसने अपनी अलग शादी कर ली थी, जिससे भाइयों ने उसे घर से निकाल दिया था। अभी एक छोटा सा नया घर बना

कर वह अपनी स्त्री सहित रह रहा था। मैंने उसकी दौड़-धूप के लिये कुछ पैसे दिये, जिस पर वह सन्तुष्ट हो गया। उस समय शे-कर् ज़ोङ् से ल्हर्से-ज़ोङ् को जाने वाले कुछ गदहे वहाँ आ पहुँचे। सुमति-प्रज्ञ ने जाकर गदहे वालों से बात-चीत की। उन्होंने पाँच टङ्का (=प्रायः आठ आने) में ल्हर्से-ज़ोङ् तक हम दोनों का सामान ले जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने सवारी के लिए एक बड़ा गदहा भी देना चाहा, किन्तु खाली हाथ पैदल चलने से तो मैं हिचकने वाला न था। रात को ही हम दोनों अपना सामान ले गदहे वालों के पास पहुँच गये।

§ ८. गदहों के साथ

१६ जून को कुछ रात रहते ही हमारे गदहे चल पड़े। गदहों पर नेपाली चावल लद कर ल्हासा जा रहा था। साथ में चावल के सौदागर का आदमी भी दो हाथ लम्बी तलवार बाँधे जा रहा था। हम ऊपर की ओर जा रहे थे। दस बजे खाने-पीने के लिए मण्डली बैठ गयी। गदहों को चरने के लिये छोड़ दिया गया। कण्डा जमाकर धौंकनी से आग धौंकी जाने लगी। हमारे चारों ओर की भूमि में सैकड़ों बर्फानी चूहों के बिल थे। हम लोगों के वहाँ रहते भी वह दौड़ दौड़ कर एक बिल से दूसरे बिल में घुस जाते थे। इनका आकार हमारे खेत के चूहों के बराबर ही था, लेकिन इनकी नर्म रोओं से भरी खाल बहुत ही मुलायम थी तथा पूँछ बिलकुल ही न थी। नाश्ते के बाद आदमियों ने गदहों को

भिगोया हुआ दला मटर दिया और वहाँ से प्रस्थान किया। अब तो मैं खाली हाथ था, इसलिये पन्द्रह सोलह हजार फीट की ऊँचाई पर भी चलने में मुझे कोई तकलीफ न थी। मैं आगे बढ़ता जोत पर पहुँच गया। वस्तुतः यह जोत नहीं है, क्योंकि पहले वाली नदी के किनारे ही हमें आगे भी जाना था। सिर्फ एक ऊँचे पहाड़ की बाहीं को पार करना पड़ा, जिसको नदी भी काटती है, किन्तु नदी के किनारे किनारे रास्ता नहीं है। जोत के बाद फिर कुछ उतराई पड़ी। यहाँ जगह जगह चमरियों का झुण्ड चर रहा था। बीच में एक जगह थोड़ा ठहर कर हम आगे बढ़े। आगे चल कर हम नदी के पाट में से चलने लगे। नदी के दूसरी ओर कुछ हिरन पानी पी रहे थे, हमें देखते ही वे पहाड़ के ऊपर भाग गये। और आगे चलने पर स्लेट का पहाड़ मिला, जिसके नीचे की नम जमीन में मिट्टी के तेल का सन्देह हो रहा था। चार बजे के क़रीब हम बक्चा ग्राम में पहुँचे। गाँव में सात आठ घर हैं। मकान क्या हैं, पत्थरों के ढेर हैं। आस-पास कहीं खेत नहीं हैं। यहाँ इस ऊँचाई पर खेती हो भी नहीं सकती। इस गाँव की जीविका भेड़ बकरी और चमरी हैं। सुमति-प्रज्ञ के पास थोड़ी चाय थी। एक घर में जाकर हमने चाय बनवा कर पी, और साथियों के लिए भी हमने चाय तयार करायी। थोड़ी देर में गदहे भी पहुँच गये।

१७ जून को कुछ रात रहते ही हम बक्चा से चले। गदहों का सर्दार घण्टा बजाते आगे चल रहा था, उसके पीछे दूसरे चल

रहे थे। ऊपर पहाड़ छोटे और दून चौड़ी होती जाती थी। रास्ते के आस-पास कहीं कहीं बर्फ की शिला भी पड़ी थी। कहीं कहीं चमरियों और भेड़ों के गोठ भी थे, जिनके काले तम्बुओं के बीच से धुआँ निकल रहा था। दस बजे के क़रीब हम छोटे छोटे पर्वतों से घिरी विस्तृत दून में पहुँचे। इसमें कितनी ही जगह चरवाहों के काले तम्बू दिखाई पड़ रहे थे। बाईं ओर रास्ते से थोड़ी दूर पर लोहे के पत्थरों का पहाड़ था। हम लोग चाय पीने के लिए बैठ गये। सब ने अपने अपने प्याले में मक्खन डाल कर चाय पी और सत्तू खाया। व्यापारी ने फटे चमड़े के थैलों पर गीली मिट्टी लगाई। अब हम दोनों फिर आगे आगे चले। दून को समाप्त कर अब पहाड़ की चढ़ाई शुरू हुई। सुमति-प्रज्ञ पिछड़ गये; मैं आगे बढ़ता गया। यद्यपि चासा-ला अठारह हज़ार फ़ीट से थोड़ा ही कम ऊँचा है, तो भी मुझे जोत पर पहुँचने में कोई तकलीफ न हुई। ला से नीचे उतर कर मैं थोड़ा लेट गया। बड़ी देर बाद सुमति-प्रज्ञ आये। गदहे वाले अब भी पीछे थे। थोड़ी देर विश्राम कर हम लोग उतरने लगे। चासा-ला की उतराई बहुत ज़्यादा और कई मील की है। इस पार कहीं कहीं पहाड़ों के अधोभाग में बर्फ थी। आस-पास में चमरियाँ हरी घास चर रही थीं। हम लोग दो बजे के करीब जिग्-चेव् गाँव में पहुँचे। दो-ढाई घण्टे बाद गदहे वाले भी पहुँचे। आने जाने वालों को टिकाना गाँव वालों का प्रधान व्यवसाय है; इसके अतिरिक्त ये लोग कुछ पशु-पालन भी करते हैं। रात को यहीं पड़ाव पड़ा।

१८ जून को फिर रात रहते ही हम चल पडे। रास्ता कडी उतराई का था। जैसे जैसे हम नीचे जा रहे थे, वैसे वैसे स्थान गर्म भी मालूम होता था। प्रभात होते समय हमारे आस पास जङ्गली गुलाब के छोटे छोटे झुर्मुट भी दिखाई देने लगे। सात बजे चाय पीने के लिए बैठ गये। एक घण्टा और चलने पर ब्रह्मपुत्र का कछार दिखायी देने लगा। यहाँ जगह जगह बडे बडे वृक्षों के बाग लगे हुए थे। दस बजे के करीब हम कछार में आ गये। इस वक्त काफी गर्मी मालूम हो रही थी। ब्रह्मपुत्र का कछार बहुत चौडा है और प्राय हर जगह खेती तथा मकान के काम लायक वृक्षों का बाग लगाया जा सकता है, लेकिन भूमि बहुत सी परती पडी हुई है। एक बजे के करीब हम गदहों के साथ ख चौङ् गाँव मे पहुँचे। यह गदहे वालों का गाँव था। आज उन्होंने यहीं रहने का निश्चय किया।

सुमति प्रज्ञ और हमने एक बुढिया के घर में अपना डेरा डाला। चाय-पानी के बाद सुमति-प्रज्ञ गाँव मे घूमने के लिए निकले। अभी वे हाते के दर्वाजे से जरा ही आगे बढे थे कि चार बडे बडे कुत्ते उन पर टूट पडे। उनके हाथ में छाता था। आवाज सुनते ही मैंने चहारदीवारी के पास आकर देखा तो सुमति प्रज्ञ कुत्तों के मुँह मे थे। मैंने पत्थर मारना शुरू किया। कुत्ते लुढकते पत्थर के पीछे क्रोध से भरे दौड दौड कर मुँह लगाने लगे। इस प्रकार सुमति प्रज्ञ को घर में लौट आने का मौका लगा। उस गाँव में उन्होंने फिर घर से बाहर जाने का नाम नहीं लिया।

१९ जून को सामान बाँध गदहे वालों के हवाले कर हम ल्हर्से-जोङ् को चल पड़े। इस कछार में गाँवों की कमी नहीं है। जगह जगह सींचने के लिए चौड़ी-चौड़ी नहरें भी हैं। हम एक बड़ी नहर पार कर एक छोटी नदी के किनारे पहुँचे। सुमति-प्रज्ञ ने बतलाया कि यह नदी स-क्या गुम्बा से आ रही है। नौ-दस बजे के करीब हम ल्हर्से पहुँच गये। पहले हम गुम्बा (=मठ) में गये। रास्ते में लोगों के आम तौर पर मुझे लदाखी कहने से, मैं अब अपने को लदाखी ही कहता था। गुम्बा में चाय पी कर मैंने कहा कि नदी के किनारे चलना चाहिए, वहाँ गदहे आयेंगे। लेकिन सुमति-प्रज्ञ ने कहा—"अभी ठहरें, फिर चल कर सामान ले आयेंगे। उनका कुछ इरादा यहाँ रहने का था और मेरा जल्दी जाने का। पूछने से मालूम हुआ कि का (=चमड़े की नाव) शीगर्ची चली गई है; दो-एक दिन में आयेगी। मेरे बहुत ज़ोर देने पर सुमति-प्रज्ञ घाट पर गये। वहाँ दो और सौदागर अपना माल लिये का का इन्तज़ार कर रहे थे। उन्होंने बतलाया का दो-तीन दिन में आयेगी। गुम्बा में जगह जगह खुले हुए कुत्ते थे, इसलिए मैं वहाँ नहीं रहना चाहता था, किन्तु सुमति-प्रज्ञ का वहीं रहने का आग्रह था। अन्त में मैं सौदागरों के साथ ब्रह्मपुत्र के किनारे ही रह गया और सुमति-प्रज्ञ गुम्बा में चले गये।

———

चौथी मंज़िल

ब्रह्मपुत्र की गोद में

§ १. नदी के किनारे

ल्हर्से-जोङ् से शी-गर्ची तक ब्रह्मपुत्र मे चमड़े की नाव चलती है। यह नाव याक के चमड़े के कई टुकड़ों को जोड़ कर लकड़ी के ढाँचे में कस कर बनाई जाती है। चमड़े की होने से इसे क्वा कहते हैं। एक नाव मे तीस-चालीस मन माल आ जाता है। हमारे साथी तीन सौदागर थे। उनमें से एक टशी-ल्हुन्पो का ढाबा (=साधु) था, एक सेरा मठ (ल्हासा) का ढाबा, और तीसरा ल्हासा का गृहस्थ था। भोट मे साधु दो भागों मे विभक्त हैं—एक तो मठों में रह कर पढ़ते-लिखते या पूजा-पाठ करते हैं, दूसरे व्यापार तथा अन्य व्यवसाय करते हैं। यह कोई कड़ा विभाग नहीं है। सौदागर ढाबों का कपड़ा गृहस्थों सा होता है, सिर्फ़ सिर पर बाल नहीं होता। एक श्रेणी का आदमी जब और जितने

दिन के लिए चाहे दूसरी श्रेणी में जा सकता है। सौदागर ढावा खुले तौर से शराब पीते हैं, औरत रखते हैं, और जानवर भी कभी कभी मारते हैं। मेरे साथियों में दोनों ढावा तो खम्-पा (=खाम् देश-निवासी) और गृहस्थ ल्हासा-पा (ल्हासा-निवासी) था। सेरा का ढावा वहीं था, जिसके साथ हमें भेजने के लिए शे-कर् मठ के खेम्बो ने प्रबन्ध किया था। टशी-रुहुन्यो का ढावा आयु में बड़ा था, इसलिए वही उनका नेता था। अठारह-बीस नाव भर का माल उनके पास था। माल में चावल के अतिरिक्त लोहा, पीतल के बर्त्तन, तथा प्याला बनाने की लकड़ी अधिक थी। सभी माल का ढेर कर दीवार बना दी गई। बीच में आग जलाने तथा सोने की जगह थी। ऊपर से चमरी के बालों की छोलदारी लगा दी गई थी। गाँव से बाहर नदी के तीर पर इस तरह माल लेकर ठहरना खतरनाक है, लेकिन भोटिया चोर भी ढावों से डरते हैं। उनके पास भी लम्बी सीधी भोटिया तलवारें तथा भोटिया कृपाण था। दिन में तो सब लोग टूटे-फूटे सामान की मरम्मत करते थे, और कभी नाव पाटने के लिए जङ्गल से लकड़ी काटने भी चले जाते थे। यहाँ ब्रह्मपुत्र के किनारे कहीं कहीं छोटे छोटे काँटेदार दरख्तों का जङ्गल है। रात को नेता तो सदा सोने के लिए गाँव में चला जाता था, कभी कभी उन दोनों में से किसी को साथ ले जाता था। इस प्रकार मैं और उनमें से एक आदमी और रखवाली के लिए रह जाते थे। भोट में लज्जा बहुत कम है। इसी लिए स्त्री-पुरुषों के अनुचित सम्बन्ध अधिक प्रकट हैं। रास्ते चलते

चलते भी आदमी पड़ाव पर स्त्रियों को पा सकता है। कुमारियाँ और बाल कढ़ा कर घर मे बैठी अनी बहुत स्वतन्त्र हैं। यह मेरा मतलब नहीं है कि भोट में दूसरे देशों से व्यभिचार अधिक है। मेरी तो यह धारणा है कि यदि सभी गुप्त और प्रकट व्यभिचारों का जोड़ लगाया जाय तो सभी देशों में बहुत ही कम अन्तर पड़ेगा। जो व्यापारी किसी रास्ते से बराबर आया-जाया करते हैं, उनको तो हर पड़ाव पर परिचित स्त्रियाँ हो गई रहती हैं। हमारे नेता ढाबा का तो इस रास्ते से बहुत व्यापार होता था। इसी लिए वह बराबर रात को गाँव में चला जाया करता था। दिन में रोज़ मटके में छङ् (=कच्ची शराब) भर कर चली आती थी और लोग पानी की जगह उसी को पीते रहते थे। ये लोग नदी में वंसी भी फेंकते, लेकिन किसी दिन कोई मछली नहीं फँसी।

उन्नीस से चौबीस जून तक मैं नदी के किनारे ही रहा। नाव दो ही तीन दिन में लौटने वाली थी, लेकिन धीरे धीरे इतनी देर लग गई। नौका जाने में तो दो दिन मे ही शी-गर्चा पहुँच जाती है, क्योंकि उसे वेगवती ब्रह्मपुत्र की धार के रुख जाना पड़ता है। लेकिन आने में, चमड़े और लकड़ी को अलग गदहों पर लाना होता है, जिसमें चार-पाँच दिन लग जाते हैं। उस समय ब्रह्मपुत्र के तट पर बैठे हुए घण्टों साथियों के साथ भोट, खाम्, अम्-धू (=मङ्गोलिया के दक्षिणी चीनी प्रान्त के दक्षिण का प्रदेश) आदि की बात सुनता था। वह लामाओं के नाना चमत्कारों की

बात सुनाते थे। तब भी दिन बहुत लम्बा मालूम होता था। मैंने समय काटने का एक तरीका निकाला। तिब्बत में नर-नारी, सभी के हाथ में प्रायः माला देखी जाती है। उन में से अधिकांश चलते फिरते बैठते उसे फेरते रहते हैं। अधिक श्रद्धालु तो एक हाथ मे माला और दूसरे में माणी घुमाते हैं। इस माणी मे ताँबे या चाँदी के चोंगे में एक लाख से अधिक मन्त्र कागज पर लिख कर मोड़ कर रखते हैं जिसके भीतर कील रहती है। कील के एक सिरे मे हत्था लगा रहता है। चोंगे मे ताँबे या पीतल की एक भारी सी घुण्डी जञ्जीर से बँधी रहती है। हाथ से घुमाने से यह बहुत जल्दी जल्दी घूमने लगता है। एक बार घूमने से भीतर लिखे सभी मन्त्रों के उच्चारण का फल होता है। यह तो हाथ की माणी हुई; तिब्बत में बहुत बडी बडी माणियाँ होती हैं, जो हाथ से चलाई जाती हैं, और कहीं कहीं गिरते पानी के जोर से पन-चक्की की तरह चलाई जाती हैं, अब कहीं कहीं कन्दील के भीतर चिराग रख कर ऊपर मन्त्र लिखा कागज़ या कपडे का छाता लटका देते हैं। इस छाते में पङ्खा होता है, जो गर्म होकर ऊपर उठती हवा के बल से चलने लगता है। यदि तिब्बत मे बिजली चल जाय, तो इसमें शक नहीं कि बहुत-सी बिजली की भी माणियाँ लग जायँगी। हमारे यहाँ जीभ हिला कर मन्त्र-पाठ होता है, कोई कोई मन्त्रों को पुण्य-सञ्चय के लिए कागज पर भी लिख लेते हैं। एकाध जगह हजारों राम-नाम की छपी पुस्तकें भी वितरित होने लगी हैं; तो भी हमारी पुण्य-सञ्चय की गति बहुत मन्द है। शायद सैकड़ों

वर्षों मे भी इस विषय में हम तिब्बती लोगों का मुकाबला न कर सकेंगे।

अस्तु, मेरे पास माणी तो थी नही, लेकिन मैंने नेपाल मे एक माला ले ली थी। नेपाल मे और रास्ते में भी खाली वक्त में कभी कभी जप करता था; लेकिन यहाँ तो इसका खास मौका था। तिब्बती लोग प्रायः अवलोकितेश्वर के मन्त्र (ओं मणि पद्मे हु) या वज्रसत्त्व के मन्त्र (ओं वज्रसत्त्व हुं, ओं वज्र-गुरु पद्मसिद्धि हुं, ओं आ हु) का जप करते हैं। मैंने इनकी जगह पर "नमो बुद्धाय" रखा। भोटिया माला में एक सौ आठ मनके होते हैं और एक सुमेरु। इसके अतिरिक्त चाँदी या दूसरी धातु के दस दस मनकों के तीन लच्छे भी माला के सूत के साथ लटकते हैं। एक बार माला फेर लेने पर पहले लच्छे का एक मनका ऊपर खिसका दिया जाता है। लच्छा बकरी या हरिन के मुलायम चमड़े मे कसके पिरोया रहता है, इसलिये मनकों चढा देने पर वहीं ठहरा रहता है। पहले लच्छे के सभी मनकों के ऊपर चढ़ जाने पर दस मालाएँ खतम हो जाती हैं, प्रत्येक माला के आठ मनकों को भूले-भटके में डाल देने से पहले लच्छे की समाप्ति एक सहस्र जप बतलाती है। पहले लच्छे की समाप्ति पर दूसरे लच्छे का एक मनका ऊपर चढ़ा दिया जाता है, और पहले लच्छे के सभी मनके गिरा दिये जाते हैं। इस प्रकार पहिले लच्छे की समाप्ति कर दूसरे लच्छे का एक एक मनका ऊपर चढ़ा दिया जाता है। दूसरे लच्छे के प्रत्येक मनके का मूल्य

एक हज़ार जप है। तीसरे लच्छे के प्रत्येक मनके का मूल्य दस हज़ार जप है, अर्थात् तीसरा लच्छा समाप्त हो जाने पर एक लाख जप समाप्त हो जाता है। यहाँ रहते रहते मैंने कई लाख जप किये। खाली बैठे रहने से कुछ पुण्य कमाना अच्छा था।

यह कह ही चुका हूँ कि ब्रह्मपुत्र का यह कछार बहुत विस्तृत है। हमारे सामने दो धार हो गई हैं। दोनों ही धारों पर रस्सी से झूले का पुल बना हुआ है। आदमी इससे पार उतरते हैं। जानवरों के उतरने के लिए थोड़ा और नीचे जाकर लकड़ी की नाव का घाट है। घाट से कुछ हट कर गाँव के छोर पर एक पहाड़ की अकेली टेकरी पर जोङ् (=कलक्टरी) है। आज कल उसमें कुछ नये मकान बन रहे थे। भोट में सर्कारी मकान प्रायः बेगार से बनते हैं। प्रत्येक घर से एक एक आदमी को कुछ कुछ समय के लिए काम करना पड़ता है। जो लोग धनी हैं वे अपनी तरफ़ से किसी को मज़दूरी देकर भी रख सकते हैं। इस वक्त झुण्ड के झुण्ड स्त्री-पुरुष (जिनमें स्त्रियाँ ही अधिक थीं) चमरी के बाल के थैलों में नदी के कछार से पत्थर चुन चुन कर गीत गाते जोङ् में ले जाते थे। पत्थर के ले आने पर घण्टों खेल-कूद और हँसी-मज़ाक किया करते थे। स्त्रियों तक को नङ्गा कर देना उनके मज़ाक में शामिल था। नदी में स्त्रियों के सामने तो नङ्गे नहाते ही थे; एक दूसरे के ऊपर कीचड़ फेंकने के लिए भी देर तक पानी के बाहर नङ्गे दौड़ते रहते थे। यद्यपि गर्मी के दिन थे तो भी पानी ठण्डा था। मैं नहाने के लिए कुछ

मिनटों से अधिक पानी में ठहर नहीं सकता था; किन्तु कोई कोई भोटिया लड़के देर तक तैरते रहते थे।

ल्हर्से गाँव में कुछ घर भोटिया मुसलमानों के भी हैं। पहले पहल दिन में एक बार मुझे अज़ाँ की आवाज़ सुनाई पड़ी। मैंने उसे भ्रम समझा, किन्तु पीछे मालूम हुआ कि कुछ मुसलमान हैं। ल्हर्से ल्हासा से लदाख जाने के रास्ते पर है; ये लोग लदाखी मुसलमानों की भोटिया स्त्रियों से उत्पन्न हैं। ये अन्य भोटियों की अपेक्षा मज़हब के बड़े पक्के हैं।

बाइस जून को कुछ का आयीं। उन पर जाने का इन्तज़ाम हो सकता था किन्तु साथियों ने अपने साथ चलने के लिए ज़ोर दिया। तेईस जून के हमारे साथियों की भी का आ गईं। दो दिन नाव में जाना था, इसलिये कुछ पाथेय तैयार करना चाहा। उस दिन मैंने भेड़ का सूखा मांस मँगवाया। भोटिया लोग सूखे मांस को स्वयंपका मानते हैं। लेकिन मैं अभी वहाँ तक पहुँचा न था। इस लिये उसे पानी मे उबाला। साथी कहने लगे, इससे तो मांस का असल सार निकल जायगा। मांस तैयार हो जाने पर मैंने मांस के टुकड़ों को तो गठरी में बाँध लिया और शोर्वा दावा को देना चाहा। उन्होंने नहीं लिया। उस समय मैं उनके इन्कार करने का कोई अर्थ नहीं समझा। लेकिन दूसरों से मालूम हुआ कि मैंने जो मांस का टुकड़ा न दिया, उससे वे बहुत नाराज़ हो गये हैं। मैं उस वक्त मांस खाने वाला न था। मैं समझता था कि रास्ते में खाने

के समय इन्हें भी बाँटूँगा, इसी ख्याल से मैं समझ न सका कि मैं कोई बड़ी भूल कर रहा हूँ। खैर, वह भूल तो हो चुकी, अब उसके मिटाने का उपाय नहीं था। रास्ते में आने से नाव का चमड़ा सूख गया था। मल्लाहों ने पत्थर रख कर उसे पानी में भिगो दिया। दूसरे दिन सबेरे से लकड़ी के ढाँचे में चमड़ा कसा जाने लगा। कस जाने पर नाव पानी में डाल दी गयी; उसके नीचे हमारे साथियों की लायी लकड़ियाँ भी बिछा दी गयीं। उस पर फिर माल रखा जाने लगा। आज सबेरे ही प्रमुख ढावा ने मुझसे कहा—नाव में जगह नहीं है, आप न जा सकेंगे। मैं इसे हँसी समझता था। दोपहर तक नाव पर माल रख दिया गया। फिर उन्होंने वही बात कही, किन्तु फिर भी मैं कुछ समझ न सका। फिर छङ् के मटके मँगाये गये और मल्लाहों का भोज शुरू हुआ। थोड़ी देर में लाल-हरे-पीले कपड़ों के छोटे छोटे टुकड़ों की पताकायें नाव पर लगाने के लिए आ गई। दो दो नावों को जोड़ कर अगली नाव के सामने झण्डी लगा दी गयी। इस बीच में शीगर्ची जाने वाले कुछ मुसाफिर आ गये। उनके जाने का भी प्रबन्ध हो गया। सुमति-प्रज्ञ भी चलने के लिए आये पर उनका और मेरा कोई प्रबन्ध न हो सका। दूसरे सौदागरों ने मुझसे कहा कि हमारे मुखिया आप को ले चलना नहीं चाहते, इस लिये हम क्या करें। इस पर मैंने एक शब्द भी उनसे न कहा। चुपके से अपने सामान का कुछ भाग सुमति-प्रज्ञ को दिया और कुछ अपनी पीठ पर लाद हम गुम्बा में चले आये।

§ २. शीगर्ची की यात्रा

गुम्बा में आकर मैं चाय पीने लगा और सुमति-प्रज्ञ को घोड़ा या खच्चर ढूँढ़ने के लिए भेजा। उनके जाने के थोड़ी देर बाद ल्हासावाले दोनों सौदागर मेरे पास आये। उन्होंने कहा—हमने कह सुन कर उन्हें मना लिया है, आप चलें। मैंने कहा—मेरा साथी भी मेरे साथ जायगा। उन्होंने कहा—साथी के लिए तो जगह नहीं है। इस पर मैंने कहा—मैं फिर तुमसे ल्हासा मे मिलूँगा; मैं तुम से जरा भी नाराज नहीं हूँ; लेकिन इस समय मैं साथी को छोड़ कर जा नहीं सकता। उन्होंने बहुत कहा किन्तु मैंने स्वीकार न किया। वे चले गये। सुमति-प्रज्ञ ने थोड़ी देर में आकर कहा—ल्हासा के तीस-बत्तीस खच्चर आये हुए हैं, वे यहाँ से ल्हासा को लौटे जा रहे हैं; मैंने यहाँ से शीगर्ची तक के लिए दो खच्चरों का भाड़ा चार साङ् (=प्रायः ३ रुपया) दे दिया; वे लोग कल सवेरे यहाँ से चलेंगे।

सुमति-प्रज्ञ तो चाङ्-बोमो विहार, जिसका महास्तूप यहाँ से दिखाई देता था, किसी से मिलने चले गये और मैं अकेला वहाँ रह गया। कुछ देर तो मैं घर की बहू की करघे की बिनाई देखता रहा। तिब्बत में ऊन की कताई-बुनाई घर घर में होती है। उनकी पट्टी का अर्ज एक बालिश्त ही होता है। आसानी से वह अर्ज को चढ़ा सकते हैं लेकिन उनका ध्यान इस ओर नहीं है। बुनाई में झाँप (पैडल) कई कई लगाते हैं, पट्टी बहुत सुन्दर और मजबूत बनाते हैं। यह घर ब्रह्मपुत्र के कछार में न था, तो भी दून बहुत विस्तृत और समतल थी, लेकिन नदी का पानी न था। खेतों में छोटे छोटे पौधे उगे हुए थे। इनकी सिंचाई वर्षा पर निर्भर थी। गाँवों में भी पानी पीने के लिए कुआँ खुदा हुआ था, जिसमें पानी बहुत नीचे न था। पानी चमड़े के डोलों से निकाला जाता था। अकेले ऊबकर मैं फिर छत पर चला गया। थोड़ी देर रहने पर घर की बुढ़िया ने नीचे उतर आने के लिए कहा। पीछे मालूम हुआ कि छत पर चढ़ना भी इस इलाके के लोग बुरा मानते हैं। शाम तक सुमति-प्रज्ञ लौट आये। रात को घरवालों ने थुक्-पा पका कर दिया। सुमति-प्रज्ञ ने घर भर के लिए बुद्ध गया का प्रसाद कह कर रास्ते में लिये हुए कपड़े की चिट फाड कर दी।

दूसरे दिन चाय-पानी करके हम दो-तीन घण्टे तक इन्तजार करते रहे। खच्चर-वाले नहीं आये। सन्देह हुआ कि आज भी तो कहीं रुक नहीं रहे हैं। अब हम लोग फिर लौटकर खच्चरों के पास चले। गाँव के पास आने पर खच्चर आते मिल गये। एक

खच्चर पर मैं चढ़ा और एक पर सुमति-प्रज्ञ। हमारे खच्चरों के मुँह में लगाम् न थी, इसलिए हम खच्चरों के क़ाबू में थे, खच्चर हमारे क़ाबू में नहीं थे। हमारा रास्ता ब्रह्मपुत्र के कछार को छोड़ कर दाहिनी ओर से था। थोड़ा आगे चलने पर जहाँ तहाँ बालू भी दूर तक मिलने लगी। कहीं कहीं उसी में कुश की तरह घास उगी हुई थी। मामूली ढालू चढ़ाई चढ़ कर, दोपहर के पूर्व ही हम एक जोत को पार कर गये। उतराई भी हल्की थी। पहाड़ यहाँ भी सब नङ्गे थे। यहाँ दाहिने और बायें कुछ दूर पर्वत-शिखर पर दो गुम्बाओं का ध्वसावशेष देखा। कई हाथ ऊँची दीवारें अब भी खड़ी थीं। बायें ध्वंसावशेष के बहुत नीचे एक नयी गुम्बा दिखाई पड़ी। उसी पर्वत के अधोभाग में कुछ विशाल हरे हरे वृक्ष भी दिखाई पड़े, वृक्ष अखरोट या बीरी के जान पड़ रहे थे।

उस दिन दो बजे तक हम चलते ही गये। उस वक्त हम कुछ चढ़ाई चढ़ कर एक गाँव में पहुँचे। वहाँ खच्चरों के सामने भूसा डाल दिया गया और हम चाय पीने लगे। थोड़ी देर बाद फिर खचर कसे गये और रवाना हुए। गाँव से ही चढ़ाई थी। एक छोटी सी धार आ रही थी, जिससे खेतों की सिंचाई हो रही थी। घण्टे भर की चढ़ाई के बाद हम जोत के ऊपर पहुँच गये। यह जोत चौरस नहीं है; रीढ़ की भाँति खाड़े पत्थरों की है। उतराई में हम कुछ दूर तक उतर कर पैदल चले। यहाँ एक प्रकार के काले रङ्ग के पत्थर बहुत देखने में आये। इन पत्थरों के समीप

अक्सर सोने की खानें मिलती हैं। बहुत देर की उतराई के बाद हमें पत्थरों की मोटी दीवारों वाला एक छोटा सा क़िला मिला। इसे किला न कह कर फ़ौजी चौकी कहना चाहिए। आज कल उजाड़ है, किन्तु इमारत पुरानी नहीं मालूम होती। स्रोत की ओर मुँह करके छोटी तोपों के रखने के सूराख़ भी हैं। कुछ और उतरने पर पड़ाव करने के लिए हम जलधारा को छोड़ कर बायी ओर की छोटी पहाड़ी पर चले और थोड़ा और आगे बढ़ कर एक नाले को पार हो च्वा-थङ्-चारो गाँव में पहुँचे। गाँव में पाँच-छः घर हैं। एक अच्छा बड़ा किसी धनी का घर है और बाकी बहुत छोटे छोटे। सुमति-प्रज्ञ और मैं एक बुढ़िया के घर में चले गये, और खचर वालों ने खलियान में लोहे के खूँटे गाड़ उनमें बड़ी रस्सी बाँध कर, उसमें बँधी छोटी रस्सी से खच्चरों के पैर पाँती से बाँध दिये। खच्चरों का बोझ उतार लिया गया। थोड़ा भूसा खा लेने पर उनकी काठी भी हटा ली गयी। शाम को खोल कर और ले जा कर उन्हें पानी पिलाया; फिर दाने का तोबड़ा मुँह में बाँध दिया। दाना यहाँ अधिकतर दली हुई हरी मटर या चकले का देते हैं। हम लोगों को बुढ़िया ने बिछाने के लिए गद्दा दे दिया; रात को पीने के लिए थुक्-पा पका दिया।

सवेरे चलते समय हमने एक टङ्का ने-छङ् (=वास करने का इनाम) दिया, और खचरों के पास चले आये। थोड़ी देर में खचर कस कर तैयार हो गये और हम रवाना हुए। उतराई बहुत दूर तक है। जगह जगह चमकते काले पत्थरों की भरमार थी।

अपने लोहे के घण्टों से दून को गुँजाते हुए हमारे खच्चर जल्दी जल्दी उतरते जा रहे थे। दस-ग्यारह बजे तक हम उतराई उतर चुके थे। दाहिनी ओर एक लाल रङ्ग की गुम्बा दिखलाई पड़ी। वहाँ उतरते ही एक नदी पड़ी। नदी पार हो, दहिने किनारे से हम नदी के ऊपर को ओर चले। अगले गाँव में चाय-पानी के लिए उतर गये। वहाँ से फिर हमने इस नदी को छोड़ दिया, और बहुत मामूली चढ़ाई चढ़ कर दूर तक चौरस चले गये और ला पर चलने लगे। इसकी मिट्टी बड़ी चिकनी और पीलापन लिये हुए है। यदि पानी हो तो यहाँ खेती अच्छी हो सकती है। आगे चल कर कुछ खेत बोये हुए थे, किन्तु उन्हें वर्षा पर ही अव-लम्बित होना होगा। बहुत दूर तक इस प्रकार चलते उतरते हम शञ्-की नदी के किनारे के बड़े गाँव में पहुँचे। गाँव में कई अच्छे अच्छे घर तथा सफ़ेदा और बारी के बाग़ थे। नहर के पानी की भी इफ़रात थी। यहाँ नदी पर बहुत भारी पत्थर का पुल है। पत्थर बिना चूने के जमाये गये हैं, बीच बीच में कहीं कहीं लकड़ी इस्ते-माल हुई है। खम्भों की रक्षा के लिए धार वाला चबूतरा बना हुआ है। यह नदी एदासा के पास वाली नदी के बराबर है। इस

टशी ल्हुन्पो

अपने लोहे के घण्टों से दून को गुँजाते हुए हमारे खच्च
जल्दी उतरते जा रहे थे। दस-ग्यारह बजे तक हम उतरा
चुके थे। दाहिनी ओर एक लाल रङ्ग की गुम्बा दिखलाई
वहाँ उतरते ही एक नदी पड़ी। नदी पार हो, दहिने ि
हम नदी के ऊपर की ओर चले। अगले गाँव में चाय-
लिए उतर गये। वहाँ से फिर हमने इस नदी को छोड़ दि
बहुत मामूली चढ़ाई चढ़ कर दूर तक चौरस चले गये
पर चलने लगे। इसकी मिट्टी बड़ी चिकनी और पीला
हुए है। यदि पानी हो तो यहाँ खेती अच्छी हो सकती है
चल कर कुछ खेत बोये हुए थे, किन्तु उन्हें वर्षा पर
लम्बित होना होगा। बहुत दूर तक इस प्रकार चलते उ
शब्-की नदी के किनारे के बड़े गाँव में पहुँचे। गाँव में ब
अच्छे घर तथा सफेदा और यारी के बाग थे। नहर के
भी इफ़ात थी। यहाँ नदी पर बहुत भारी पत्थर का पुल
बिना चूने के जमाये गये हैं, बीच बीच में कहीं कहीं ल
माल हुई है। खम्भों की रक्षा के लिए धार वाला च
हुआ है। यह नदी ल्हासा के पास वाली नदी के बराब
नदी का कछार भी आगे बहुत चौड़ा है, किन्तु सभी न
के सम-तल नहीं है। हम नदी को दायें रखते चले। थो
नदी हमसे बहुत दूर हो गई। चार बजे के करीब ह
गाँव में पहुँचे। इन गाँवों में खच्चरों और गदहों के ठहर
वाड़े बाने हुए हैं। भूसा बेचने तथा चाय आदि पकाने से

को पैसा मिलता है, इसलिए वे खच्चर वालों की आवभगत करते हैं। हम दोनों के लिए घर में एक कोठरी मिल गई। आज भी यात्रा बड़ी लम्बी हुई थी, खच्चर पर चढ़े चढ़े पैर दर्द कर रहा था। मैं तो जा कर बिछौना बिछा लेट रहा। सुमति-प्रज्ञ ने मुझे दो-चार बातें सुना चाय तैयार की। थुक्-पा पकाने में भी उन्होंने दो-चार बातें सुनायीं। उनमें यही तो एक दोष था, पर मैं चुप रहा।

२९ जून को आठ या नौ बजे हम ने-चोङ् से चले। रास्ता बराबर का था। दस बजे के करीब हम ला पर पहुँच गये। इसमें चढ़ाई कुछ भी नहीं है, इसलिए इस ट-ला को ला कहना ही अनुचित है। हाँ, चोर का भय इस ला पर रहता है। ला से उतरने पर

को पैसा मिलता है, इसलिए वे खच्चर वालों की आवभगत करते हैं। हम दोनों के लिए घर में एक कोठरी मिल गई। आज भी यात्रा बड़ी लम्बी हुई थी, खच्चर पर चढ़े चढ़े पैर दर्द कर रहा था। मैं तो जा कर बिछौना बिछा लेट रहा। सुमति-प्रज्ञ ने मुझे दो-चार बातें सुना चाय तैयार की। थुक्-पा पकाने में भी उन्होंने दो-चार बातें सुनायीं। उनमें यही तो एक दोष था, पर मैं चुप रहा।

२९ जून को आठ या नौ बजे हम ने-चोङ् से चले। रास्ता बराबर का था। दस बजे के करीब हम ला पर पहुँच गये। इसमें चढ़ाई कुछ भी नहीं है, इसलिए इस ट-ला को ला कहना ही अनुचित है। हाँ, चोर का भय इस ला पर रहता है। ला से उतरने पर मामूली सी उतराई थोड़ी दूर तक रही; फिर मामूली ढलुआँ जमीन और दून बहुत ही विस्तृत। बारह बजे के बाद हम नार्-थङ् पहुँचे। यहाँ कञ्जूर-तञ्जूर का विशाल छापाखाना है। इसका वर्णन मुझे आगे करना है, इसलिए यहाँ छोड़ता हूँ। नार्-थङ् में ज़रा सा उतर कर हमने चाय पी और फिर आगे चले। दो बजे के बाद हमने पहाड़ के चरण पर टशी-ल्हुन्पो का मठ देखा। यही टशी-लामा का मठ है।

§ ३. शीगर्ची

देखते ही सब लोग खच्चरों से उतर गये। दूर तक ऊपर नीचे बने हुए इन घरों की छतों के बीच में, मन्दिरों की सुनहली चीनी ढङ्ग की छत बहुत ही सुन्दर मालूम हो रही थी। मठ के

सब से नीचे भाग से लगा हुआ टशी-लामा का बगीचा है। इसी की चहार-दीवारी के किनारे से हम लोग टशी-ल्हुन्पो के दरवाजे के सामने आये। यहाँ छोटी कियारियों और गमलों में मूली तथा दूसरे प्रकार के साग लगे हुए थे। टशी-ल्हुन्पो मठ से शीगर्ची का कस्बा कुछ सौ गज पर है। सब से पहले पुराने चीनी किले की मिट्टी की लम्बी दीवारें हैं, बगल में लम्बी मणियाँ हैं। पत्थरों पर मन्त्र तथा देवमूर्तियाँ खुदवा कर मोटी दीवारों पर रख देते हैं। इन्हें माणी कहा जाता है। अवलोकितेश्वर का सर्व-प्रधान मन्त्र ओं मणि पद्मे हु है, इसी के मणि शब्द के कारण जप-यन्त्र और इस मन्त्र का नाम माणी पड गया है। माणी को दाहिने रख कर हम शीगर्ची में पहुँचे। खच्चर वालों ने पडाव पर जा कर हमारा सामान हमें दे दिया। स्थान ढूँढने के लिए पहले सुमति-प्रज्ञ अपने एक परिचित के घर गये, किन्तु आवाज देने पर भी वहाँ से कोई न निकला। फिर कई जगह रहने के लिए स्थान माँगा, लेकिन भिखमङ्गों जैसी सूरत वालों को स्थान कौन दे? अन्त में हम एक सराय में गये। वहाँ बडी मुश्किल से आदमी पीछे एक टङ्का रोजाना भाडे पर बरामदे मे जगह मिली और रात को वहीं विश्राम किया।

इस रात को भी सुमति-प्रज्ञ ने खुल कर कुटूक्तियों का प्रयोग किया। मैंने विचारा कि अब इनके साथ चलना मुश्किल है। आदत इनकी छूट नहीं सकती, मैं जवाब तो नहीं दे सकता, किन्तु अपनी आन्तरिक शान्ति को अटूट भी रख नहीं सकता।

सवेरा होते ही सामान वहीं रख दिया और मैं किसी नेपाली का घर ढूँढ़ने निकला। नेपाल में ही एक सज्जन ने दो भाई नैपालियों की शीगर्ची की दूकान का पता बतलाया था। मुझे नाम तो याद नहीं था, किन्तु एक नेपाली सज्जन से मैंने दो भाई सौगादरों का पता पूछा। शीगर्ची में बीस-बाइस ही नेपाली दूकानें हैं, उनमें भी बड़ी कोठियाँ चार-पाँच ही हैं। मुझे उन्होंने नाम और स्थान बतला दिया। मैं वहाँ पहुँचा। सात बजे दिन को भी साहु अभी सो रहे थे। निकल कर बातचीत की। उन्होंने बड़े प्रेम से स्वागत किया और अपने आदमी को मेरे साथ सामान लेने के लिए भेज दिया। मैंने आ कर सराय में दोनों आदमियों का भाड़ा दे दिया, और सुमति-प्रज्ञ के लिए अपना पता दे कर कोठी मे चला आया। गर्म पानी और साबुन से मुँह-हाथ धोया। तब तक चाय मांस तैयार हो गया। सत्तू के साथ भोजन किया।

भोजनोपरान्त श्री आनन्द तथा कुछ दूसरे मित्रों को पत्र लिख कर भेजने के लिए उनके हाथ में दिया। साहु जी से मैंने जल्दी अपने ल्हासा चलने की बात कही। उन्होंने आठ-दस दिन विश्राम करने को कहा। मैंने कहा—मुझे शीघ्र ल्हासा पहुँचना चाहिए; अभी मैं चोरी से जा रहा हूँ; ऐसा न हो कि किसी को मालूम हो जाय, और मुझे यहाँ से ही लौट जाना पड़े; ल्हासा जाकर मैं दलाई-लामा को अपने आने की सूचना दे दूँ; पीछे फिर कभी निश्चिन्त हो कर आऊँगा। इस पर वे मुझे साथ ले खच्चरों के रहने की जगहों पर चले। इन जगहों में कोई ल्हासा जाने

वाला खबर न मिला। अन्त में ल्हासे से आये खच्चर वालों के ही पास गये। वे लोग नहीं मिले, लेकिन घर वाले से उनको भेज देने के लिए कह कर हम लौट आये। शीगर्ची भोट देश में ल्हासा के बाद दूसरी बड़ी बस्ती है। आबादी दस हजार से ऊपर होगी। कोई कोई मकान बहुत बड़े और सुन्दर हैं। यहाँ नेपाली व्यापारियों की बीस दूकानें हैं; इतनी ही मुसल्मानों की भी दूकानें हैं। दूकानें अधिकतर सड़क पर खुले मुँह न रख कर घरों में रखी जाती हैं। बाहर की तरफ रुख होने से लूट-पाट का डर रहता है। हर एक नेपाली कोठी में कई फायर की दो तीन पिस्तौलें हैं। आत्म-रक्षा के लिए यह अनिवार्य हैं। मकान की छतों पर अक्सर बड़े कुत्ते रखे जाते हैं, जिसमें चोर छत के रास्ते न आ सकें। सवेरे नौ बजे से ग्यारह बजे तक बड़ी माणी के पीछे हाट लगती है। इसमें साग, सब्जी, मक्खन, कपड़ा, बर्तन आदि सभी चीजें बिकती हैं। खरीदने वाले इन्हीं दो घण्टों में खरीद लेते हैं, नहीं तो फिर दूसरे दिन के लिए ठहरना होता है। हाट की जगह से पश्चिम तरफ पोतला[1] के आकार का बना हुआ "जोङ्" है। यहाँ की सभी स्त्रियों का शिरोभूषण धनुषाकार होता है। इसके दोनों छोरों पर नकली बालों की वेणी लटकती है। हैसियत के अनुसार इसमें मूँगे और मोती भी लगे रहते हैं। पहले पहल भोट में हमने यहाँ सूअरों की भरमार देखी।

---

१. [ल्हासा में दलाई लामा का महल।]

पहली जुलाई को रामपुर-बुशाहर (शिमला-पहाड़) राज्य का एक तरुण मेरे पास आया। आयु तेइस-चौबिस वर्ष की है। उर्दू-हिन्दी खूब बोल लेता है। घर पर स्कूल में अपर प्राइमरी तक इसने उर्दू पढ़ी थी। चार-पाँच वर्ष से यहीं आकर भोटिया पढ़ रहा है। कुत्ती छोड़ने पर यहीं आकर हिन्दी बोलने का मौक़ा मिला। उससे यह भी मालूम हुआ कि मेरा एक लदाख का परिचित युवक, जो घर और अपनी मुहर्रिरी की अच्छी नौकरी छोड़ कर धर्म सीखने के लिए तिब्बत आया था, दो वर्ष में धर्म सीख सिद्ध बन ल्हासा की एक तरुण योगिनी को ले कर इसी रास्ते से कुछ दिन पूर्व लौटा है। रघुवर ने (यही उस बुशहरी तरुण का नाम है) उसे खोपड़ी में छङ् पीते और लोगों का दुःख-सुख देखते देखा था। उसी समय खच्चरवाले भी आ गये। शीगर्ची से ल्हासा का आठ साङ् (पाँच रुपये से कुछ अधिक) भाड़ा तै हुआ। उन्होंने ग्याञ्ची हो कर बारह दिन में ल्हासा पहुँचा देने को कहा। सीधा जाने में सात दिन में ल्हासा पहुँचा जा सकता है। ग्याञ्ची में अंग्रेज़ वाणिज्य-दूत रहता है, इसलिए मैं उधर से जाना खतरे से खाली नहीं समझता था, लेकिन जल्दी जाने का दूसरा कोई उपाय न था, और मुझे अपने वेष पर भी अब पूरा विश्वास हो गया था।

दो जुलाई को दोपहर बाद बस्ती के बाहर नदी किनारे नाच का जल्सा था। सभी श्रेणी के लोग शराब और खाने-पीने की चीज़ें ले बन-ठन कर जा रहे थे। भोटिया लोग नाच-उत्सव के बड़े

प्रेमी हैं। उस वक्त वे सब भूल जाते हैं। नाच स्त्रियों का होता है, बाजा बजाने वाले पुरुष रहते हैं। यहाँ भी प्रायः सभी नेपालियों ने भोटिया स्त्रियाँ रख ली हैं। वे भी इस उत्सव में जा रही थीं। शाम तक यह तमाशा होता रहा। फिर लोग अपने अपने घर लौटने लगे। तिब्बत में चावल नहीं होता। तो भी नेपाली सौदागर कम से कम रात को अवश्य चावल खाते हैं। मांस तो तीनों वक्त खाते हैं। रात को शराब पीना एक आम बात है।

तीन जुलाई को यहाँ से चलना निश्चय हुआ था। बड़े तड़के ही साहु के साथ मैं टशी-ल्हुन्पो गुम्बा (=मठ) देखने गया। टशी-ल्हुन्पो में वैसे तो बहुत देवालय हैं, लेकिन उनमें पाँच मुख्य हैं। इन पाँचों पर सुनहरी छतें भी हैं। पहले हम मैत्रेय के मन्दिर में गये। मैत्रेय आने वाले बुद्ध हैं। मैत्रेय की प्रतिमा बड़ी विशाल है; कोठे पर से देखने से मुख अच्छी तरह दिखाई पड़ता है। मुख्य प्रतिमा मिट्टी की है, किन्तु ऊपर से सोने का पत्र चढ़ाया हुआ है। यह देखने में बहुत शान्त और सुन्दर है। नाना वर्ण की रेशमी ध्वजायें बड़ी सुन्दरता से लटकायी हुई हैं। प्रतिमा के सामने विशाल सोने-चाँदी के घी के दीपक अखण्ड जल रहे हैं। मूर्ति के आस-पास और भी छोटी मूर्तियाँ हैं। इसी मन्दिर के बगल के कोठे में कई सौ छोटी छोटी पीतल की सुन्दर मूर्तियाँ सजी देखीं। इन मूर्तियों में भारत के बड़े बड़े बौद्ध आचार्य और सिद्ध भी हैं। अङ्गहीन को साधु बनाना विनय के नियम के

विरुद्ध है, तो भी यहाँ मैंने काले श्रामणेरों को देखा। एक जगह भोटिया भाषा में सूत्र गाये जा रहे थे। गाने की लय नेपाली लोगों के सूत्र-गायन से बहुत मिलती थी। दूसरे मन्दिर भी बहुत ही सुन्दर और सोना चाँदी और रत्नों से भरे हुए थे। आज जल्दी ही जाना था, और फिर एक बार मुझे टशील्हुन्पो आना ही था, इसलिए जल्दी जल्दी देख कर हम लौट आये। आने पर खच्चर वालों को रास्ते में पाया।

§ ४. ग्याँची की यात्रा

भोजन तैयार था, किन्तु जल्दी में मैंने उसे भी न खाया। सामान लेकर खच्चरों के पास आया, और नौ बजे के करीब हम शीगर्ची से निकल पड़े। आज थोड़ी ही दूर जाना था। चारों ओर हरे हरे खेत थे जिनमें जगह जगह नहर का पानी बह रहा था। खेत चरने के डर से खच्चरों के मुँह में लकड़ी का जाला लगा दिया गया था। जौ-गेहूँ की कोई कोई बाल फूट रही थी। सरसों के फूलों से तो सारा खेत पीला हो रहा था। कहीं कहीं लाल फूलों वाले मटर के खेत भी थे। कृषक लोग कहीं खेत में पानी दे रहे थे और कहीं घास निकाल रहे थे। यह खेत हमारे चारों ओर लगातार मीलों तक दिखाई पड़ते थे। गावों के पास सफेद छाल तथा बड़े बड़े हरे पत्तों वाले सफेदे के दरख्तों के छोटे छोटे बाग दिखाई पड़ते थे। कटी बीरी के सिर पर पतले बेंत की तरह लम्बी डालियाँ, पतली-लम्बी हरी पत्तियों से ढँकी, किसी

पशाची के सिर के बाल सी दिखाई पड़ती थीं। उस वक्त मैं अपने को माघ में युक्त-प्रान्त के किसी गाँव में जाता हुआ समझ रहा था। घण्टे के भीतर ही हम तुरिङ् गाँव में पहुँच गये। आज यहीं रहना था।

हमारे तीन खच्चर वालों मे एक सर्दार था। उसके पास खच्चर भी अधिक थे। वह थोड़ा लिखना-पढ़ना भी जानता था। अपने ऊँचे खान्दान को जतलाने के लिए उसने बायें कान में फीरोजा-जटित दो-ढाई तोले सोने की बाली पहन ली थी; हाथ के बायें अँगूठे मे अङ्गुल भर चौटी हरे पत्थर की मुँदरी पहन रखी थी। बाकी दो के एक एक कान में पाँच-पाँच छः छः तोले चाँदी की फीरोजा-जटित अँगूठी-नुमा बालियाँ पडी थीं। सिर पर पुरानी फ़ेल्ट की अङ्ग्रेजी टोपी तो तिब्बत मे आम चीज़ है ही। खच्चरों को उन्होंने दर्वाजे के बाहर आँगन में बाँध दिया और चारा डाल देने के बाद, हम रईस के घर में चले गये। उनके बायें कान में फ़ीरोजा और मूँगे मोती की नुकीली लम्बी सुनहली पेंसल सी लटक रही थी, जो बतला रही थी, कि वह भोट-सर्कार के कोई अधिकारी हैं। जाते ही साथियों ने जीभ निकाल दाहिने हाथ मे टोपी ले उसे दो तीन बार नीचे ऊपर किया। इस प्रकार सलामी देने के बाद सब लोग बिछे गद्दे पर बैठ गये। यद्यपि मेरी पोशाक भिखमङ्गों की थी, तो भी नेपाली साहु का मेरे प्रति विशेष सम्मान देख कर खच्चरवाले कुछ लिहाज करते थे। मैं भी भिखमङ्गों का कपड़ा पहनने पर भी अनेक बार अपने को

भिखमङ्गा समझना भूल जाता था। मेरे लिए विशेष आसन दिया गया और चाय पीने के लिए चीनी मिट्टी का प्याला ला कर रखा गया। उन लोगों के लिए सूखा मांस और छङ् का बर्तन लाया गया। सर्दार छङ् नहीं पीता था, उसने तो चाय पी और बाकी दो छङ् पीने लगे। बीच बीच में वे खच्चरों को देख आते थे, नहीं तो रईस की नौकरानी ताँबे-पीतल के छङ्दान में शराब उड़ेलने के लिए खड़ी ही रहती थी। वे लोग पीते जाते थे और रईस साहब और उडेलवाते जाते थे। शाम तक वे तंग आकर पीते ही रहे। आँखें उनकी लाल हो गयी थीं। पेट में जगह न थी इसलिए वे बार बार टोपी उतार और जीभ निकाल कर सलाम करते थे; लेकिन "और दो" लगा ही रहा। सूर्यास्त के साथ उनकी छङ् भी बन्द हुई।

भोटिया लोगों में कला की ओर रुचि सार्वजनीन है। इस घर में भी दीवार पर सुन्दर हाशिया, उसके ऊपर लाल-हरे रङ्ग में सुन्दर झालर बनी हुई थी। सत्तू रखने के लकड़ी के सत्तूदान भी बहुत सुन्दर बेल-बूटों से अलंकृत थे। चाय की चौकी की रँगाई, उसके पावों की जाली का काम रङ्ग के सम्मिश्रण में सुरुचि को प्रकट कर रहा था। बैठने का मोटा गद्दा घास या ऊन भर कर ऊपर से बहुत ही सुन्दरता के साथ रँगी ऊनी पट्टी से मढ़ा था, जिसके ऊपर चीनी छाप का सुन्दर कालीन बिछा हुआ था। शाम के वक्त वर्षा होने लगी, उस वक्त आँगन में काले हाशिये वाला सफेद जीन का चंदवा तान दिया गया। खिड़कियों

पर फर्श से मढ़े लकड़ी की जाली वाले पल्ले थे, जिनके द
की ओर भारी खिड़की को ढाँके काले हाशिये वाला सफ़ेद व
का पर्दा था, जिसे घुण्डी के सहारे इच्छित अंश में खोला या ब
किया जा सकता था। हमारी बैठक के पास ही रईस के दे
लड़कों को उनका शिक्षक पढ़ा रहा था। भोट में सुलेख
शीम्-लेस की दो लिपियाँ हैं; जिन्हें क्रमशः ऊ-चेन् (हाँ
वाली) और ऊ-मेद (=बे डाँडी-वाली) कहते हैं। सर्व साधा
को ऊ-मेद की ही अधिक जरूरत है, इसलिए भिक्षुओं को छं
कर बाकी लोग ऊ-मेद ही ज्यादा लिखते हैं। अध्यापक का
पर अपने हाथ से सुन्दर अक्षर लिख देते हैं, लड़के पट्टी पर क
से उसे बार बार लिखते-रटते रहते हैं। हमारे यहाँ के पुरानी र
के गुरुओं की भाँति तिब्बत में भी छड़ी को शिक्षा के लिए अ
वार्य तथा आवश्यक समझते हैं। कहीं भूल होने पर अध्या
गाल फुलवा कर उस पर बाँस या बेंत की चौड़ी कमाच से
कार कर मारते हैं।

भी मांस या ऐसी चीज़ आपके सामने रखने पर आप को दो-चार दाना ही मुँह में डाल लेना चाहिए, नहीं तो सभ्यता के ख़िलाफ़ समझा जायगा। मैंने भी सभ्यता रखनी चाही किन्तु सर्दार ने कहा—खूब खाइये। पीछे खूब मक्खन डाल कर बनी चाय भी घर-घर से आने लगी। सर्दार रात को अपने जाति-बन्धुओं के घर में भी मिलने गये।

पाँच जूलाई को प्रातःकाल ही जौ के आटे का उबाला फरा आया। उस पर डालने के लिए कड़कड़ाया कड़ुआ तेल आया, लेकिन मैंने उसे अस्वीकार कर दिया। दस बजे खच्चरों को दाना खिला कर वहाँ से रवाना हुए। आज यात्रा बहुत लम्बी न थी। गाँव से निकल कर पहले हम दक्खिन तरफ के पहाड़ की जड़ में आये, फिर पहाड़ के किनारे किनारे खेतों से बाहर ही चले। यहाँ नहरों का अच्छा प्रबन्ध है। दो-ढाई मील इसी प्रकार जा कर हमें उत्तर तरफ मुड़ना पड़ा, और दोपहर को हम पान्चा गाँव में पहुँच गये। खच्चरों को आराम करने का मौका पूरा नहीं मिला था। इसलिए खच्चर वालों को अपने सम्बन्धी के घर पर सस्ता भूसा खिलाते दो चार दिन विश्राम करना था, तथा वहाँ होने वाली नाटक-लीला को भी देखना था। पान्चा में जिसकी गोशाला में हम उतरे, वह इस इलाके का बड़ा जागीरदार है। यद्यपि उसके मकान के भीतर मैं नहीं गया, तो भी बाहर से देखने से बड़ा सुन्दर मालूम होता था।

चावल के बोझ के साथ बैठ गया। पहली बार तो उसका मुँह भी नीचे को हो गया। मैंने तो समझा मरा, किन्तु खच्चरवालों ने झट उसका मुँह ऊपर कर चावल के थैले की रस्सी खोल दी। चावल भीग गया। ऐसे तो हर एक चावल के बोरे पर लाह की मुहर लगी रहती है। लेकिन यदि मुहर टूटने के डर से चावल खोल कर न सुखाया जाता, तो ल्हासा पहुँचते पहुँचते खाने लायक न रहता। जुन्या में उन्होंने चावल को निकाल कर कम्बल पर फैला दिया। मजदूरी मे उन्होंने दो-तीन दिन के थुक्पा लायक चावल निकाल लिये। शीगर्ची से ही हम ब्रह्मपुत्र की दून छोड़ कर ग्यांँची से आने वाली नदी की दून पकड़े ऊपर को जा रहे थे। शीगर्ची समुद्रतल से १२, ८५० फीट ऊपर है और ग्याँची १३,१२० फीट। इसी से ग्यांँची में अपेक्षा से अधिक सर्दी मालूम होती है। अभी हम शीगर्ची से बहुत दूर नही आये थे, इसीलिए प्रदेश भी गर्म मालूम होता था। यहाँ के खेतों मे बथुआ का साग दिखाई पड़ता था। जुन्या में हमारे सरदार के पूर्वजों का घर है। एकाध ही पीढ़ी पूर्व वे ल्हासा के पास गन्दन में जा कर बस गये हैं। खच्चरों को बगीचे में बाँधा गया। वही नक्काशी और चित्र से रञ्जित काष्ठों से सु-सज्जित घर की दालान में हम लोगों का आसन लगा। आजकल इन घरों में भूसा भरा रहता है। खबर पाते ही सर्दार के जाति-भाई की स्त्रियाँ खाने पीने की चीजें लेकर पहुँचने लगीं। पहले खाने की चीजों में धान की खीलें, लाई, तेल के नमकीन सेव तथा नारंगी-मिठाई आयी। भेट में भरा थाल

भी मांस या ऐसी चीज़ आपके सामने रखने पर आप को दो-चार दाना ही मुँह में डाल लेना चाहिए, नहीं तो सभ्यता के ख़िलाफ़ समझा जायगा। मैंने भी सभ्यता रखनी चाही किन्तु सर्दार ने कहा—खूब खाइये। पीछे खूब मक्खन डाल कर बनी चाय भी घर-घर से आने लगी। सर्दार रात को अपने जाति-बन्धुओं के घर में भी मिलने गये।

पाँच जूलाई को प्रातःकाल ही जौ के आटे का उबाला फरा आया। उस पर डालने के लिए कड़कड़ाया कड़ुआ तेल आया, लेकिन मैंने उसे अस्वीकार कर दिया। दस बजे खच्चरों को दाना खिला कर वहाँ से रवाना हुए। आज यात्रा बहुत लम्बी न थी। गाँव से निकल कर पहले हम दक्खिन तरफ़ के पहाड़ की जड़ में आये, फिर पहाड़ के किनारे किनारे खेतों से बाहर ही चले। यहाँ नहरों का अच्छा प्रबन्ध है। दो-ढाई मील इसी प्रकार जा कर हमें उत्तर तरफ़ मुड़ना पड़ा, और दोपहर को हम पा-चा गाँव में पहुँच गये। खच्चरों को आराम करने का मौका पूरा नहीं मिला था। इसलिए खच्चर वालों को अपने सम्बन्धी के घर पर सस्ता भूसा खिलाते दो चार दिन विश्राम करना था, तथा वहाँ होने वाली नाटक-लीला को भी देखना था। पा-चा में जिसकी गोशाला में हम उतरे, वह इस इलाके का बड़ा जागीरदार है। यद्यपि उसके मकान के भीतर मैं नहीं गया, तो भी बाहर से देखने से बड़ा सुन्दर मालूम होता था।

इसलिए जूँएँ इन्हीं में रहती हैं। उस दिन वह स्त्री अपनी जाकट निकाल कर उसमें से चुन चुन कर, मसूर के बराबर काली काली जूँओं को खाने लगी। आगे एक आदमी से पूछने पर पता लगा कि जूँएँ खाने में खट्टी लगती हैं और जूँ खाने का रिवाज भोट में आम है।

आठ जूलाई को सवेरे चाय-सत्तू खा कर हम लोग चले। गाँव से बाहर निकलते ही एक खच्चर का खच्चरों की पिछली टाँग पर बाँधने के डण्डे के चार बन्धनों में से एक टूट गया। खच्चर ने कूद कूद कर दूसरे बन्धन को भी तोड़ दिया और चावल का थैला लटक कर पेट पर आ गया। अब मालूम हुआ कि खच्चर वाले क्यों लकड़ी की दुम-ची लगाते हैं। गाँव से दक्खिन पहले हम खेतों से बाहर आये। फिर पूर्व की ओर मुड़े। यहाँ एक देवालय है। इसकी बगल से नहर के किनारे किनारे हमारा रास्ता था। आगे अब हम खेतों से बाहर बाहर पहाड़ के किनारे किनारे ऊपर की ओर चल रहे थे। चढ़ाई मालूम न होती थी। चार बजे के पूर्व ही हम सन्चा गाँव में पहुँचे। गाँव के पास ही पहाड़ की जड़ में नेशा नामक एक छोटा सा मठ है। कई दिन साथ रहने से अब खच्चर वालों ने कुछ छेड़-छाड़ शुरू की। उत्तर देने की प्रवृत्ति को तो रोक लेता था, किन्तु मन पर उसका असर न होता हो ऐसी बात न थी। कहीं कहीं मैं उनके आशय को भी नहीं समझता था कि कैसे रहने से वे खुश रहेंगे, और कहीं वे मुझसे न होने लायक काम की आशा रखते थे। मैं समझता था कि यदि

असाधारण डील-डौल के कुत्ते की भुस-भरी खाल छत से लटक रही थी। कहीं कहीं याक (=चमरी) या भालू की भी ऐसी लटकती खाल मैंने देखी थी। लोग इसे भी यन्त्र-मन्त्र सा समझते हैं। भोटिया लोग अक्सर अपने घर की छत पर रात को खुला हुआ कुत्ता छोड़ रखते हैं। एक दिन मैं गलती से छत पर जा कर सो गया, उस वक्त मेरा एक साथी भी सो रहा था। सवेरे वह पहले ही उठ कर चला आया। सोते आदमी को न पहचानने से कुत्ता कुछ नहीं बोलता था, लेकिन मैं अच्छी तरह समझ रहा था कि उठते ही मुझे लड़ाई लेनी पड़ेगी। मैं फिर कितनी ही देर लेटा रहा। जब साथियों में से एक किसी काम के लिए ऊपर आया, तो उसके साथ नीचे उतरा।

सुमति-प्रज्ञ ने एक दिन कहा था कि भोटिया लोग जूँ भी खाते हैं। मैंने उसी समय इन्हीं खच्चर वालों से पूछा तो इनके सर्दार ने इन्कार कर दिया था। उस दिन सर्दार की रिश्तेदार एक धनी तरुण स्त्री उनके डेरे पर आयी थी। भोटिया लोग नहाते नहीं हैं, इसलिए जूँ पड़ जाना स्वाभाविक है। स्त्रियों का छुपा (=लम्बा चोगा) ऊनी पट्टी का होता है और उसमें बाँह नहीं होती। उसके नीचे स्त्रियाँ लाल पीले या किसी और रङ्ग की लम्बी बाँह की जाकट पहनती हैं। यह जाकट अण्डी या सूती कपड़े की होती है। छुपा टखनों तक होता है, उसके भीतर कमर से ऊपर जाकट होती है, और नीचे टखनों तक सूती या अण्डी की घघरी होती है। भीतर के कपड़े चूँकि शरीर के पास होते हैं,

इसलिए जूँएँ इन्हीं मे रहती हैं। उस दिन वह स्त्री अपनी जाकट निकाल कर उसमें से चुन चुन कर, मसूर के बराबर काली काली जूँओं को खाने लगी। आगे एक आदमी से पूछने पर पता लगा कि जूँएँ खाने में खट्टी लगती हैं और जूँ खाने का रिवाज भोट मे आम है।

आठ जूलाई को सवेरे चाय-सत्तू खा कर हम लोग चले। गाँव से बाहर निकलते ही एक खच्चर का खच्चरों की पिछली टाँग पर बाँधने के डण्डे के चार बन्धनों मे से एक टूट गया। खचर ने कूद कूद कर दूसरे बन्धन को भी तोड़ दिया और चावल का थैला लटक कर पेट पर आ गया। अब मालूम हुआ कि खच्चर वाले क्यों लकड़ी की दुम-ची लगाते हैं। गाँव से दक्खिन पहले हम खेतों से बाहर आये। फिर पूर्व की ओर मुड़े। यहाँ एक देवालय है। इसकी बगल से नहर के किनारे किनारे हमारा रास्ता था। आगे अब हम खेतों से बाहर बाहर पहाड़ के किनारे किनारे ऊपर की ओर चल रहे थे। चढ़ाई मालूम न होती थी। चार बजे के पूर्व ही हम स-चा गाँव में पहुँचे। गाँव के पास ही पहाड़ की जड़ मे नेशा नामक एक छोटा सा मठ है। कई दिन साथ रहने से अब खच्चर वालों ने कुछ छेड़-छाड़ शुरू की। उत्तर देने की प्रवृत्ति को तो रोक लेता था, किन्तु मन पर उसका असर न होता हो ऐसी बात न थी। कहीं कहीं मैं उनके आशय को भी नही समझता था कि कैसे रहने से वे खुश रहेंगे, और कही वे मुझसे न होने लायक काम की आशा रखते थे। मैं समझता था कि यदि

में खच्चरों की पीठ पर माल रखने उठाने में मदद देता, तो वे अवश्य खुश रहते, किन्तु मैं उस समय उसके लायक अपने में शक्ति न देखता था। यह दोष उन्हीं का नहीं था, किन्तु प्रायः सभी भोटिया ऐसे ही होते हैं। शाम को उन लोगों ने कहा, कल सवेरे ही चलेंगे, ग्याञ्ची में चाय पी कर आगे चल कर ठहरेंगे, ग्याञ्ची में भूसा-चारा महँगा मिलता है।

नौ जूलाई को सूर्योदय के जरा ही बाद हम स-चा से रवाना हुए। नहरें यहाँ अधिक और काफी पानी बहाने वाली थीं। खेतों की हरियाली से आँख तृप्त हो रही थी। नदी की धार के पास भोटिया बबूल के जङ्गल थे। गाँवों के मकान अच्छे दो मजले थे। इनकी दीवारों पर की सफेद मिट्टी, छत पर लकड़ी या कण्डे का का काला हाशिया, लम्बी ध्वजायें, और सरल रेखा में सभी दर्वाजे तथा खिड़कियाँ दूर से देखने में बहुत सुन्दर मालूम होती थीं। नहरें ऐसे तो मध्य-भोट-देश में सभी जगह हैं, किन्तु इधर की अधिक बाकायदा मालूम होती हैं। नहरों के अन्त में सत्तू पीसने की पन-चक्की प्रायः सभी जगह देखने में आती है। गाँव में भी पनचक्की मिली। यहाँ कई अरब खरब मन्त्रों से भरी एक विशाल माणी पानी के जोर से चलती देखी। माणी के ऊपर बाहर की ओर निकली एक लम्बी लकड़ी थी जो हर चक्कर में छत से लटकते घण्टे की जीभ पर टकराती थी और इस प्रकार हर चक्कर के समाप्त होने पर घण्टे की एक आवाज होती थी। मैं समझता हूँ, एक चक्कर में एक सेकण्ड भी न लगता था।

इस प्रकार एक सेकण्ड में एक खरब मन्त्रों का जप हो जाता था। ये साधारण मन्त्र नहीं थे। भारत के उत्तम से उत्तम मन्त्रों के भी करोड़ों जप उनके एक बार के उच्चारण की बराबरी नहीं कर सकते। फिर अवश्य ही इस पुण्य का, जो कि उस गाँव में प्रति सेकण्ड उपार्जित किया जा रहा था, अङ्कगणित की बड़ी से बड़ी राशि में बतलाना असम्भव है। मैं सोच रहा था, यदि इस सारे पुण्य को माणी लगाने वाला व्यक्ति अपने ही लिए रखे, तो उसे एक सेकण्ड के पुण्य को ही भोगने के लिए असङ्ख्य कल्पों तक इन्द्र और ब्रह्मा के पद पर रहना होगा। फिर एक मास और दो मास के पुण्य की बात ही क्या? लेकिन यह सुन कर गणित के चक्कर में घूमते हुए मेरे दिमाग को शान्ति मिली कि तिब्बती लोग महायान के मानने वाले होते हैं, और अपने अर्जित सभी पुण्य को पूँजी वालों की तरह अपने लिए न रख कर प्राणिमात्र को प्रदान करते हैं। कौन कह सकता है कि घोर पाप-सङ्कट में लिप्त भूमण्डल के मनुष्यों को समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाने तथा पृथ्वी के उदर में समा जाने से बचा रखने में तिब्बत की यह हजारों माणियाँ कितना काम कर रही हैं? काश! यन्त्रवादी दुनिया भी इसके महत्त्व को समझती, और अल्लाह, क्राइष्ट, राम, कृष्ण के लाख दो लाख नाम मशीन के पहियों में अङ्कित कर रखती! माहात्म्य-सहित श्रीमद्भगवद्गीता तो घड़ी के पहियों पर अङ्कित करायी जा सकती है। अस्तु।

दस बजे के करीब हम ग्याञ्ची पहुँचे। काठमाण्डव (नेपाल)

के धर्ममान् साहु की अपार धर्म-श्रद्धा को तो मुझे एक लदाखी मित्र ने सिंहल में ही लिख भेजा था। शीगर्ची में किसी ने मुझे बतलाया कि इस समय कुछ काल के लिए उनकी यहाँ की दूकान बन्द हो गई है। ग्याञ्ची में उनकी दूकान का नाम ग्यो-लिङ्-छोक्-पा है। अभी ल्हासा आठ-दस दिन मे पहुँचना था, इसलिए मैंने खच्चर वालों से कहा—मैं ग्यो-लिङ्-छोक्-पा में दोपहर को ठहर कर कुछ खाने का सामान लेता हूँ, फिर चलेंगे। तिब्बत के कस्बों और शहरों में हर घर का अलग अलग नाम होता है; जो कि हमारे शहरों के घर के नम्बर तथा मुहल्ले की जगह काम आता है। ग्या-लिङ्-छोक्-पा ऐसा ही नाम है। मेरे ठहर जाने पर थोड़ी देर मे खच्चर वालों ने आ कर कहा—आज हम लोग ग्याञ्ची में ही ठहरेंगे, कल चलेंगे।

ग्याञ्ची ल्हासा और भारत के प्रधान रास्ते पर है, जो कि कलिम्पोङ् हो सिली-गोडी के स्टेशन पर ई० बी० रेलवे से आ मिलता है। यहाँ भारत सरकार का "ब्रिटिश वाणिज्य-दूत" तथा नेपाल-सरकार का वकील (=राजदूत, के साथ सहायक वाणिज्य-दूत, डाक्टर, तथा एकाध और अँग्रेज़ अफसर रहते हैं। सौ के करीब हिन्दुस्तानी पल्टन भी रहती है। ग्याञ्ची के विषय में मुझे आगे लिखना ही है, इसलिए इस वक्त इतने ही पर सन्तोष करता हूँ।

§ ६. ल्हासा को

रात को उस दिन कुछ वर्षा हुई, वह दूसरे दिन (१० जूलाई) दस बजे तक होती रही। ग्याञ्ची में भी हाट सवेरे आठ से बारह

बजे तक लगती है। मैंने रास्ते के लिए हरी मूली चिउड़ा चीनी चावल चाय और मिठाई ले ली थी। कुछ मीठे पराठे तथा उबला माँस भी ले लिया था। पच्छिम की पर्वत-शृङ्खला की एक बाँहीं ग्याञ्ची मैदान के बीच में आ गई है, जिसके अन्तिम सिरे पर ग्याञ्ची का ज़ोङ् (= दुर्ग) है। इस बाँहीं के तीन तरफ़ ग्याञ्ची का कस्बा बसा हुआ है। मुख्य बाज़ार बाँही के दक्खिन तरफ़ बसा हुआ है जो कि बाँही के घुमाव पर के पर्वत पर बनी गुम्बा के दर्वाजे पर लम्बा चला गया है। ग्या-लिङ्-छोक्-पा वाली सड़क पर माणी की लम्बी दीवार है। दोपहर के बाद हम लोग बाँही की ही छोटी रीढ़ पार हो दूसरी तरफ़ की बस्ती में आये। बस्ती से बाहर निकलने पर रास्ते में कहीं कहीं पानी बह रहा था। गेहूँ और जौ के पौधों की हरियाली पानी के धुल जाने से और भी निखर आई थी। रास्ते में चीनी सिपाहियों के रहने की कुछ टूटी-फूटी जगहें मिलीं। यहाँ मैदान बहुत लम्बा-चौड़ा था, जिसमें दूर तक हरियाली दिखाई पड़ती थी। रास्ते से पूर्व ओर वृटिश दूतावास की मटमैले रङ्ग की दूर तक चली गई इमारत देखी। थोड़ा और आगे बढ़ने पर तार के लकड़ी के खम्भे दिखाई पड़ने लगे। ग्याञ्ची तक अंग्रेजों का तार और डाकखाना है। यहाँ से आगे ल्हासा तक भोट-सर्कार का तार है। ऐसे तो भोट सर्कार का डाकखाना फरी-ज़ोङ् से आगे तक है। ग्याञ्ची से एक मील दूर जाते ही हमने भोटिया डाक ले जाने वाले दो डाकियों को देखा। हाथ में घुँघरू-बँधा छोटा सा भाला था, पीठ पर पीले

ऊनी कपड़े में बँधी डाक थी। एक तो उनमें से ग्यारह बारह वर्ष का लड़का था। जहाँ ग्याञ्ची तक अँग्रेजी डाक के लिए दो घोड़े रखने पड़ते हैं, वहाँ इधर दो छोटी सी पोटली लिये हुए महज़ दो आदमी रहते हैं। इससे ही मालूम हो रहा था कि भोटिया डाक में लोगों का कितना विश्वास है। अँग्रेजी डाक में यद्यपि इधर बीमा नहीं लिया जाता, तो भी नेपाली सौदागर बड़े बड़े मूल्यवान् पदार्थ डाक से भेजते और मँगाते हैं, किन्तु भोटिया डाक में (बीमा होने पर भी) वे बहुत ही कम अपने पार्सलों को उनकी मार्फत ग्याञ्ची भेजते हैं।

घण्टे भर चलने के बाद फिर वर्षा शुरू हुई। उस समय मालूम हुआ कि हमारे साथ का एक कुत्ता ग्याञ्ची में ही भूल गया। कुत्तेवाला उसे लाने के लिए ग्याञ्ची लौटा और हम आगे बढ़े। गाँव और खेत रास्ते के अगल-बगल कई जगह दिखाई पड़े। गाँवों के पास बीरी (=कश्मीरी बीरी) और सफेदा के दरख़्त हर जगह ही थे। हमें रास्ते में एक पहाड़ी बाँही मिली। इसमें कोई वैसी चढ़ाई न थी। लेकिन उसके पार वाला फ़ौजी मोर्चा बतला रहा था कि यह भी पहले सामरिक महत्त्व का स्थान रह चुका है। बाँही पार करने पर कच्चा किला सा मिला। अब इसकी कुछ हाथ ऊँची मिट्टी की दीवारें भर रह गई हैं। यहाँ से कुछ देर हम पूर्व-उत्तर की ओर चले और थोड़ी ही देर में दि-की-ठो-मो पहुँच गये। यहाँ एक धनी गृहस्थ का घर है। हमारे साथी माल ढोने के काम के साथ साथ चिट्ठी-पत्री ले जाने का काम भी

करते थे। डाक के न रहने के जमाने में हमारे देश में भी वनजारे व्यापारी ऐसा किया करते थे। घर के वाहर खलिहान का वड़ा अहाता था। हमारे स्वागत के लिए एक वड़ा काला कुत्ता आया। भोटिया लोग ऐसे कुत्तों की पर्वा नहीं किया करते। मैंने भी खच्चरों के रोकने और माल उतारने में मदद दी। वूँदें पड़ रही थीं। इसलिए छोलदारी खड़ी की गई। खूँटों की रस्सी के सहारे खच्चरों को बाँध दिया गया और भूसा ला कर उनके सामने डाल दिया गया। खच्चरों से निवृत्त हो सर्दार के साथ मैं रईस के घर में गया। एक भयङ्कर कुत्ता वड़े खूँटे में मोटी जञ्जीर के सहारे बँधा हुआ था। हमें देखते ही "हौ" "हौ" कर पिंजरे के शेर की तरह चक्कर काटने लगा। द्वार के भीतर सीढ़ी पर चढ़ने की जगह वैसा ही एक दूसरा कुत्ता बँधा हुआ था। ये दोनों ही कुत्ते डील-डौल में असाधारण थे। भेड़िया इनके सामने कुछ न था। मैंने समझा था, इनका मूल्य वहुत होगा, किन्तु पूछने पर मालूम हुआ, दस-पन्द्रह रुपये में इनके वच्चों की जोड़ी मिल सकती है। घर का लड़का कुत्ते को दवा कर वैठ गया और हम कोठे पर गये। जा कर रसोई के घर में गद्दे पर वैठे, सत्तू और चाय आई। मैंने थोड़ी छाछ भी पी। यहाँ भी गृहपति ने लदाख की वात-चीत पूछी। उस समय कुछ भिक्षु भी गृह-स्वामी के मङ्गलार्थ पूजा-पाठ करने के लिए आये हुए थे। उन्होंने भी "लदाखी भिक्षु" का हाल पूछा। वहाँ से फिर लौट कर मैं डेरे में आ गया। कुछ देर वाद हमारा साथी भी कुत्ता ले कर चला आया। घर से उत्तर तरफ़ लगी हुई

ही नदी की धार है; जिसके दूसरी तरफ खेती के लायक बहुत सी जमीन पड़ी हुई है। घर से दक्षिण-पश्चिम एक स्तूप है। सन्ध्या-काल में वृद्ध गृह-पति माला और माणी हाथ में लिए उस स्तूप की परिक्रमा करने लगे। धीरे धीरे सन्ध्या हो गई। मेरे साथी तो घर में चले गये, मैं अकेला डेरे में रह गया। उस समय आसमान बादलों से घिरा था, बूँदें टप्-टप् पड़ रही थीं। रह रह कर बिजली चमक उठती थी। अकेले डेरे में बैठा मैं सोच रहा था—चलो ग्याञ्ची से भी पार हो गया; अब ल्हासा पहुँचने में सिर्फ कुछ दिनों की ही देरी है, यात्रा का विचार कर नेपाल तक जिसे लोग बड़ा भयावना बतलाते थे, मुझे तो उसमें वैसी कुछ भी कठिनाई न पड़ी; थोड़े ही दिनों में रहस्यों से भरी ल्हासा नगरी में भी मैं इसी प्रकार पहुँच जाऊँगा और तब कहूँगा कि झूठ ही लोग इस यात्रा को इतना भयानक कहा करते हैं। समय बीत जाने पर मनुष्य ऐसा ही सोचा करता है। जब मैं इस प्रकार अपने विचारों में तल्लीन था, उसी समय वह खुला कुत्ता मेरे पास आ कर भूँकने लगा। मेरी विचार-शृङ्खला टूट गई और मैं डण्डा सँभाल कर बैठ गया। वह दूर से ही कुछ देर तक भूँकता रहा और फिर चला गया। कुछ रात और जाने पर मेरे साथी काफ़ी छङ् पी कर लौट आये और रात को छोलदारी के नीचे सब लोग सो रहे।

पाँचवीं मंज़िल

अतीत और वर्त्तमान तिब्बत की झाँकी

§ १. तिब्बत और भारत का सम्बन्ध

तिब्बत ऐसा अल्पज्ञात संसार में कोई दूसरा देश नहीं। कहने को तो यह भारत की उत्तरी सीमा पर है, किन्तु लोगों को, साधारण नहीं शिक्षितों को भी, इसके विषय में बहुत कम ज्ञान है। मैंने अपने एक मित्र को पुस्तक लिखने के लिए कुछ कागज डाक से भेजने के लिए लिखा था। उन्होंने पूछा कि डाक की अपेक्षा रेल से किफ़ायत होगी, स्टेशन का पता दें[1]। तिब्बत की वास्तविक स्थिति की जानकारी का ऐसा ही हाल है। हमारे लोगों को यह मालूम नहीं कि हम हिमालय की तलौटी के अन्तिम रेलवे

---

१. [कम से कम इस उदाहरण में तो तिब्बत का दोष नहीं, लेखक के मित्र का है, या हमारे ऐंग्लो-इण्डियन विद्यालयों की शिक्षा का।]

स्टेशनों से चल कर बीस बीस हजार फुट ऊँची जोतों को पार कर एक महीने में ल्हासा पहुँच सकते हैं, यदि ब्रिटिश और भोट-सरकार की अनुमति हो। कलिम्पोङ से प्रायः दो तिहाई रास्ता खतम कर लेने पर ग्याञ्ची मिलता है। ब्रिटिश राज्य का प्रतिनिधि यहीं रहता है, और यहाँ अँगरेजी डाकखाना है, जिसका सम्बन्ध भारतीय डाक-विभाग से है, और जहाँ भारतीय डाक-दर पर चिट्ठी-पासेल जा-आ सकते हैं। तार भी ल्हासा तक भारतीय ही दर पर पहुँच सकता है।

तिब्बत के सभ्य संसार से पूर्ण रूप से अपरिचित होने का एक कारण इसकी दुर्गमता भी है। दक्षिण और पश्चिम ओर वह हिमालय की पर्वतमाला से घिरा है। इसी प्रकार ल्हासा से सौ मील दूरी पर जो विशाल मरुभूमि फैली हुई है वह इसको उत्तर ओर से दुर्गम बनाये हुए हैं। संसार का यह सर्वोच्च पठार है। इसका अधिकांश समुद्र की सतह से १६,५०० फुट ऊँचा है। यहाँ ८ महीने बर्फ जमीन पर जमी रहती है। भारत से आने वाले लोग दार्जिलिङ्ग या काश्मीर के मार्ग से यहाँ आते हैं। ल्हासा को दार्जिलिङ्ग से मार्ग गया है। वह वहाँ से ३६० मील दूर है।

तिब्बत बड़ा देश है। यह नाममात्र को चीन-साम्राज्य के अन्तर्गत है। यहाँ के निवासी बौद्ध-धर्मावलम्बी हैं। परन्तु सामाजिक आदि बातों में एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के निवा-

सियों से मेल नही खाते हैं। तथापि यहाँ धर्म को बडी प्रधानता प्राप्त है। यहाँ के शासक दलाई लामा बुद्ध भगवान् के अवतार माने जाते हैं। लोगों का विश्वास है कि जब नया आदमी दलाई लामा की गद्दी पर बैठता है तब उसमे बुद्ध भगवान् की आत्मा का आविर्भाव होता है। फलत. सारे देश में जगह जगह बौद्ध मठ पाये जाते हैं। ल्हासा मे तीन ऐसे मठ हैं जिनमें कोई चार-पाँच हजार भिक्षुक निवास करते होंगे। उनके सिवा और जो मठ हैं उनमें भी सैकडो की सख्या मे भिक्षुक रहते हैं।

देश की प्राकृतिक अवस्था के कारण तिब्बतियों का देश दूसरे देशों से अलग पड गया है। इस परिस्थिति का वहाँ के निवासियो पर जो प्रभाव पडा है, उससे वे स्वय एकान्तप्रिय हो गये हैं। तिब्बती लोग शान्त और शिष्ट होते हैं। वे अपने रङ्ग में रँगे रहते हें। विदेशियो का सम्पर्क अच्छा नहीं समझते। अपने पुराने धर्म पर तो उनकी अगाध श्रद्धा है ही, साथ ही पुराने ढङ्ग से खेती-बारी तथा जरूरत भर का रोजी धन्धा कर के वे सन्तोष के साथ जीवन बिता देना ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। इस २० वी सदी की सभ्यता से वे बहुत ही झिझकते हैं। यही कारण है कि वे विदेशियों को अपने देश मे घुसने नहीं देते हैं। तो भी अतिथि-सत्कार में वे अद्वितीय हैं।

तिब्बती लोग चाय बहुत पीते हैं। नाचने-गाने का भी उन्हें बडा शौक होता है। पुरुष अधिक नाचते हैं, स्त्रियों मे उसका

उतना प्रचार नहीं है। यहाँ की स्त्रियों में भारत की तरह पर्दे का रवाज नहीं है। वे रोज़ी-धन्धे करके धनोपार्जन भी करती हैं।

तिब्बत—विशेष कर ल्हासा की तरफ़ वाले प्रदेश—में पहुँचना कितना कठिन है, यह जिन्होंने तिब्बत-यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों को देखा है वे भली प्रकार जानते हैं। इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि भारत-सीमा को फागुन सुदी ६ को छोड़ कर आषाढ़ सुदी त्रयोदशी को मैं ल्हासा पहुँच सका।

मेरी यह यात्रा भूगोल-सम्बन्धी अन्वेषण या मनोरञ्जन के लिए नहीं हुई है, बल्कि यह यहाँ के साहित्य के अच्छे प्रकार अध्ययन तथा उससे भारतीय एवं बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथा धार्मिक सामग्री एकत्र करने के लिए हुई है। इतिहास-प्रेमी जानते हैं कि सातवीं शताब्दी के नालन्दा के आचार्य शान्त-रक्षित से आरम्भ करके ग्यारहवीं शताब्दी के विक्रमशिला के आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान के समय तक तिब्बत और भारत (उत्तरी भारत) का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। तिब्बत को साहित्यिक भाषा अक्षर और धर्म देने वाले भारतीय हैं। उन्होंने यहाँ आ कर हज़ारों संस्कृत तथा कुछ हिन्दी के ग्रन्थों के भी भाषान्तर तिब्बती भाषा में किये। इन अनुवादों का अनुमान इसी से हो सकता है कि संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवादों के कंग्यूर और तंग्यूर के नाम से जो यहाँ दो संग्रह हैं उनका परिमाण अनुष्टुप् श्लोकों में करने पर २० लाख से कम नहीं हो सकता। कंग्यूर में उन ग्रन्थों का संग्रह है

जिन्हें तिब्बती बौद्ध भगवान् बुद्ध का श्रीमुख-वचन मानते हैं। यह मुख्यतः सूत्र, विनय और तन्त्र तीन भागों में बाँटा जा सकता है। यह कंग्यूर १०० वेष्टनों में बँधा है, इसी लिए कंग्यूर में सौ पोथियाँ कही जाती हैं, यद्यपि ग्रन्थ अलग अलग गिनने पर उनकी संख्या सात सौ से ऊपर पहुँचती है। कंग्यूर में कुछ ग्रन्थ संस्कृत से चीनी में हो कर भी भोटिया में अनुवाद किये गये हैं। तंग्यूर में कंग्यूरस्थ कितने ही ग्रन्थों की टीकाओं के अतिरिक्त दर्शन, काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक, तन्त्र-मन्त्र के कई सौ ग्रन्थ हैं। ये सभी संग्रह दो सौ पोथियों में बँधे हैं। इसी संग्रह में भारतीय-दर्शन-नभोमण्डल के प्रखर ज्योतिष्क आर्यदेव, दिङ्नाग, धर्मरक्षित, चन्द्रकीर्ति, शान्तरक्षित, कमलशील आदि के मूल-ग्रन्थ, जो संस्कृत में सदा के लिए विनष्ट से चुके हैं। शुद्ध तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित हैं। आचार्य चन्द्रगोमी का चान्द्रव्याकरण सूत्र, धातु, उणादि-पाठ, वृत्ति, टीका, पंचिका आदि के साथ विद्य-मान है। चन्द्रगोमी 'इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नः' वाले श्लोक के अनुसार आठ महावैयाकरणों में से एक महावैयाकरण ही नहीं थे, बल्कि वे कवि और दार्शनिक भी थे, यह उनकी तंग्यूर में वर्तमान कृतियों—लोकानन्द-नाटक, वादन्यायटीका आदि—से मालूम होता है। अश्वघोष, मतिचित्र (मातृचेता), हरिभद्र, आर्यशूर आदि महाकवियों के कितने ही विनष्ट तथा कालिदास, दंडी, हर्षवर्द्धन, क्षेमेन्द्र आदि के कितने ही संस्कृत में सुलभ ग्रन्थ भी तंग्यूर में हैं। इसी में अष्टाङ्गहृदय, शालिहोत्र आदि कितने

ही वैद्यक-ग्रन्थ टीका-उपटीकाओं के साथ मौजूद हैं। इसी में मतिचित्र का पत्र महाराज कनिष्क को, योगीश्वर जगद्रत्न का महाराज चन्द्र को दीपङ्कर श्रीज्ञान का राजा नयपाल (पालवंशी) को तथा दूसरे भी कितने ही लेख (पत्र) हैं। इसी में ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ के बौद्ध मस्ताना योगी सरह, अवधूती आदि के दोहा कोष आदि हिन्दी-ग्रन्थों के भाषान्तर हैं।

इन दोनों संग्रहों के अतिरिक्त भोट भाषा में नागार्जुन, आर्य-देव, असङ्ग, वसुवन्धु, शान्तरक्षित, चन्द्रकीर्ति, धर्मकीर्ति, चन्द्र-गोमी, कमलशील, शील, दीपङ्कर श्रीज्ञान आदि अनेक भारतीय पण्डितों के जीवनचरित्र हैं। तारानाथ, बुतोन्, पद्मकरपो, वेंडु-रिया सेरपो, कुन्ग्यल आदि के कितने ही छोजुङ् (धर्मेतिहास) हैं, जिनसे भारतीय इतिहास के कितने ही ग्रन्थों पर प्रकाश पड़ता है। इन नम्थर (जीवनी), छोजुङ् (धर्मेतिहास), कंग्यूर तंग्यूर के अतिरिक्त दूसरे भी सैकड़ों ग्रन्थ हैं, जिनका यद्यपि भारतीय इतिहास से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तो भी वे सहायता पहुँचा सकते हैं।

उक्त ग्रन्थ अधिकतर कैलाश-मानसरोवर के समीप वाले थोलिङ् गुम्बा (विहार), मध्य तिब्बत के सक्या, समये आदि विहारों में अनूदित हुए थे। इन गुम्बाओं (विहारों) से हमारे मूल संस्कृत ग्रन्थ भी मिल जाते, यदि वे विदेशियों-द्वारा जलाये न गये होते। तो भी खोजने पर ग्यारहवीं शताब्दी से पूर्व के कुछ ग्रन्थ देखने को मिल सकते हैं।

§ २. आचार्य शान्तरक्षित

(लगभग ६५०—७५० ई०)

सिंहल में बौद्ध-धर्म की स्थापना जिस प्रकार सम्राट् अशोक के पुत्र ने की, उसी प्रकार भोट (तिब्बत) में बौद्ध धर्म की दृढ स्थापना करने वाले आचार्य शान्तरक्षित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शान्तरक्षित के आने से पहले भोट-सम्राट् स्रोङ्-चन-स्गेम-पो के ही समय (६१८—५० ई०) में, जिसने नेपाल-विजय कर अंशुवर्मा की राजकुमारी से विवाह किया तथा चीन के अनेक प्रान्तों को अपने साम्राज्य में मिला चीन-सम्राट् की कन्या का पाणिग्रहण किया, तिब्बत में बौद्ध धर्म प्रवेश कर चुका था। स्रोङ्-चन की ये दोनों रानियाँ बौद्ध थीं और इन्हीं के साथ बौद्ध धर्म भी भोट में पहुँचा। इसी सम्राट् के बनवाये ल्हासा के सबसे पुराने दो मन्दिर रमोछे और चोरेम्पोछे हैं। तो भी उस समय बौद्ध धर्म तिब्बत में दृढ़ न हो पाया था। उस समय न कोई भिक्षु-विहार था, न कोई भिक्षु ही बना था। सारे भोट पर बौद्ध धर्म की पक्की छाप लगाने वाले आचार्य शान्तरक्षित ही थे। उन्हीं आचार्य का संक्षिप्त जीवन-चरित भोटिया ग्रन्थों के आधार पर पाठकों के सम्मुख रखता हूँ।

मगध देश की पूर्व सीमा पर का प्रदेश (मुंगेर, भागलपुर के जिले) पाली और संस्कृत ग्रन्थों में अङ्ग के नाम से प्रसिद्ध था। इसी प्रदेश का पूर्वी भाग मध्य काल में सहोर के नाम से प्रसिद्ध

था। भोटिया लोग सहोर को जहोर लिखते और बोलते हैं। सहोर[1] का दूसरा नाम भोटिया ग्रन्थों में भगल या भगल भी मिलता है। इस भगल नाम की छाया आज भी इस प्रदेश के प्रधान नगर भागलपुर में पाई जाती है। इसी प्रदेश में गङ्गा-तट की एक छोटी पहाड़ी के पास पालवंशीय राजा (देवपाल ८००—८३७ ई०) ने एक विहार बनवाया, जो पास की नगरी विक्रमपुरी के कारण विक्रमशिला[2] के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह विहार विक्रमपुरी के समीप उत्तर तरफ था। विक्रमपुरी के दूसरे नाम भागलपुर तथा विक्रमपुर भी भोटिया ग्रन्थों में मिलते हैं। विक्रमपुरी एक माण्डलिक राजवंश की राजधानी थी, जिसे भोटिया ग्रन्थकार लाखों घरों की बस्ती बतलाते हैं। अस्तु इसी राजवंश में जिसने भोट के दूसरे महान् धर्म-प्रचारक दीपंकर श्रीज्ञान या अतिशा (जन्म ९८२, मृत्यु १०५४ ई०) को जन्म दिया, सातवीं शताब्दी के मध्य में (अन्त सन् ६५० ई०) आचार्य शान्तरक्षित का जन्म हुआ था।

नालन्दा तथागत की चरणधूलि से अनेक बार पवित्र हो चुका था। भगवान् बुद्ध ने यहाँ एक वर्षा-काल भर वास भी

---

१. सहोर, बङ्गाल में नहीं बिहार में है। इस विषय पर सप्रमाण लेख मैं पटना के "युवक" को भेज चुका हूँ।

२. भागलपुर ज़िले का सुल्तानगंज ही विक्रमशिला प्रतीत होता है।

किया था। इसी के अत्यन्त सन्निकट नालकग्राम था, जिस ने भगवान् के सर्वोपरि शिष्य धर्मसेनापति आर्य सारिपुत्र को जन्म दिया था। इस-से इस स्थान की पुनीतता अच्छी तरह समझ में आ सकती है। यहाँ बुद्ध-जीवन ही में प्रावारक सेठ ने अपना प्रावारक आम्रवन प्रदान कर दिया था। इस प्रकार यहाँ पूर्व ही से एक विहार चला आता था। सम्राट् अशोक के समय में तृतीय धर्म-सङ्गीति (सभा) में सर्वास्तिवाद आदि निकाय (संप्रदाय) स्थविरवाद से निकाल दिये गये थे। इस पर सर्वास्तिवादियों और दूसरों ने अपनी सभा नालन्दा[1] में की। इसके बाद नालन्दा सर्वास्तिवादियों का केन्द्र बन गया। बौद्ध-धर्मानुयायी मौर्यों के राज्य को हटाकर बौद्ध-द्वेषी ब्राह्मण मतानुयायी शुंगों ने अपना राज्य (ई० पू० १८८) स्थापित किया। उस समय सभी बौद्ध निकायों ने विपरीत परिस्थिति के कारण मगध छोड़ अपने केन्द्र अन्य प्रदेशों में स्थापित किये। सर्वास्तिवादियों ने मथुरा के पास के गोवर्धन पर्वत को अपना केन्द्र बनाया। इसी समय सर्वास्तिवाद ने अपने पिटक को संस्कृत का रूप दिया। इतिहास में यह सर्वास्तिवाद आर्य सर्वास्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। पीछे कुषाणों के समय कुषाण राजाओं का यह बहुत ही श्रद्धाभाजन हो गया और इस प्रकार इसका केन्द्र मथुरा से हट कर कश्मीर-गन्धार में जा पहुँचा। कश्मीर-

---

१. पटना ज़िले का बड़गांव।

गन्धार का सर्वास्तिवाद मूलसर्वास्तिवाद कहलाता है। सम्राट् कनिष्क मूलसर्वास्तिवाद के लिए दूसरे अशोक थे; जिन्होंने तक्षशिला के धर्मराजिका स्तूप को आचरियाणं सब्बत्थिवदिनं परिग्गहे [1] शब्दों के अङ्कित कर उत्सर्ग किया। कनिष्क की संरक्षता में एक महती (चौथी) बौद्ध-धर्म-परिषद् हुई, जिस में मूल सर्वास्तिवाद के अनुसार त्रिपिटक की विस्तृत टीकायें बनीं। इन टीकाओं का नाम विभाषा हुआ। इस प्रकार मूलसर्वास्तिवादियों का दूसरा नाम वैभाषिक पड़ा।

इसी मूलसर्वास्तिवाद से पीछे महायान की उत्पत्ति हुई, जिस ने वैपुल्य (पाली—वैतुल्ल), अवतंसक आदि सूत्रों को अपना अपना सूत्रपिटक बनाया। किन्तु विनयपिटक मूलसर्वास्तिवादियों वाला ही रक्खा [2] महायान से वज्रयान और भारत में बौद्ध धर्म की नौका डूबने के वक्त (१२ वीं शताब्दी) सहजयान (घोर वज्रयान) का उदय हो जाने पर भी नालन्दा उदन्तपुरी [3] और विक्रमशिला के महाविहारों में मूलसर्वास्तिवाद

---

१. सर्वास्तिवादी आचार्यों के परिग्रह (trust) में।

२. त्रिपिटक में तीन पिटक हैं—विनय पिटक, सुत्त पिटक और अभिधम्म पिटक।

३. पटना ज़िला के बिहार शरीफ़ कसबे के पास वाली पहाड़ी पर था, जहाँ पर आज-कल एक बड़ी दरगाह खड़ी है। [मुहम्मद बिन बख़्तियार ख़िलजी ने इसी को लूटा था।]

ही का विनयपिटक माना जाता था। भोटिया भिक्षु आज भी इसी को मानते हैं और बड़े अभिमान से कहते हैं कि हम विनय (मूलसर्वास्तिवाद विनय), बोधिसत्व (महायान) और वज्रयान तीनों के शील को धारण करते हैं, यद्यपि यह बात एक तटस्थ की समझ में नहीं आ सकती। शील तो मनुष्य हज़ारों धारण कर सकता है। अनुयोगी और प्रतियोगी प्रकाश और अन्धकार को एक स्थान में जिस प्रकार रखना असम्भव है, वैसे ही परस्पर विरोधी दो शीलों का भी रखना सम्भव नहीं। इस के कहने की आवश्यकता नहीं कि विनय और वज्रयान के शील अधिकतर परस्पर विरोधी हैं। अस्तु।

शान्तरक्षित के समय नालन्दा की कीर्ति दिगन्तव्यापिनी थी। य्वन्-च्वाङ् थोड़े ही दिनों पूर्व वहाँ से विद्या ग्रहण कर चला गया था। वहाँ वज्रयान या तन्त्रयान का अच्छा प्रचार था। शान्तरक्षित ने घर छोड़ वहीं आचार्य ज्ञानगर्भ के पास (अन्दाजन ६७५ ई० में) मूलसर्वास्तिवाद-विनय के अनुसार प्रव्रज्या और उपसंपदा ग्रहण की। इसी समय इन का नाम शान्तरक्षित पड़ा। नालन्दा में अपने गुरु के पास ही शान्तरक्षित ने साङ्गोपांग त्रिपिटक का अध्ययन किया। त्रिपिटक की समाप्ति के बाद बोधिसत्व-मार्गीय (महायानिक) ग्रन्थ अभिसमयालङ्कार आदि के पढ़ने के लिए आचार्य विनयसेन के पास उपनीत हुए, जिन से उन्हों ने महायान-मार्गीय विस्तृत और गम्भीर दोनों क्रमों के अध्य-

यन के साथ आर्य नागार्जुन[1] के माध्यमिक सिद्धान्त का भी अध्ययन किया। पीछे इसी पर उन्होंने मध्यम कालङ्कार नामक अपना ग्रन्थ टीका सहित लिखा।

जिस समय आचार्य शान्तिरक्षित नालन्दा में थे, उसी समय चीनी भिक्षु ई-चिङ्[2] (६७१-९५ ई०) नालन्दा में कई वर्ष रहे। किन्तु उन्हो ने अपने ग्रन्थ में शान्तरक्षित के विषय में कुछ नहीं लिखा, यद्यपि और कितने ही विद्वानों के विषय में बहुत कुछ लिखा। इसका कारण उस समय शान्तरक्षित की प्रतिभा की अप्रसिद्धि ही हो सकती है। विद्या-समाप्ति के बाद शान्तरक्षित ने

१. [नागार्जुन दूसरी शताब्दी ई० के मध्य में दक्षिण कोशल (छत्तीसगढ) में हुए थे। वे बहुत बड़े दार्शनिक और वैज्ञानिक थे। भारतीय दर्शन, वैद्यक आदि में उन्होंने अनेक नये विचार चलाये। महायान के प्रवर्तक यही हैं। देखिए—भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न. § पृ० २४, ३२-३३।]

२. कश्मीरी, पठान, नेपाली, तिब्बती, चीनी लोग च का एक दबा सा उच्चारण करते हैं—च और स के बीच का। इस ग्रन्थ के लेखक और सम्पादक उसे च के नीचे बिन्दु लगा कर प्रकट करते हैं; उसका टाइप अभी नहीं ढलने लगा। अँग्रेज़ी में उसके लिए ts संकेत है, जिसे न समझ कर हमारे बहुत से हिन्दी लेखक ई-चिङ को इत्सिंग्, त्वान् च्वाङ् को हुएन ध्सांग और चाङ्पो को त्सांगपो या सानपो लिखा करते हैं।

नालन्दा में ही अध्यापन का कार्य शुरू किया। उनके शिष्यों में हरिभद्र और कमलशील थे, जो दोनों ही यशस्वी लेखक हुए हैं। इन दोनों के कितने ही ग्रन्थ संस्कृत में नष्ट हो जाने पर भी तंग्यूर में भोटिया अनुवाद के रूप में मिलते हैं। आचार्य शान्तरक्षित ने अनेक ग्रन्थ बनाये, जिनमें दर्शन-सम्बन्धी निम्नलिखित ग्रन्थ तंग्यूर में अब भी मिलते हैं, यद्यपि तत्त्वसंग्रह के अतिरिक्त सभी मूल संस्कृत में नष्ट हो चुके हैं।

१—सत्यद्वयविभंगपञ्जिका; अपने गुरु ज्ञानगर्भ के ग्रन्थ पर टीका।

२—मध्यमकालंकारकारिका; नागार्जुन के माध्यमिक सिद्धान्त पर।

३—मध्यमकालंकारवृत्ति; मध्यमकालंकारकारिका की टीका।

४—बोधिसत्वसंवरविंशिकावृत्ति; महावैयाकरण दार्शनिक महाकवि चन्द्रगोमी के ग्रन्थ पर टीका।

५—तत्त्वसंग्रहकारिका।

६—वादन्यायविपंचितार्थ; बौद्ध महानैयायिक धर्मकीर्ति के वादन्याय पर टीका।

इनके अतिरिक्त आचार्य ने तन्त्र पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु आज कल मूल संस्कृत में उनके दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं; तत्त्वसंग्रहकारिका और ज्ञानसिद्धि। पहला अभी दो

मुसलमानों के आगमन से पूर्व विक्रमशिला वाला प्रदेश (भागलपुर जिले का दक्षिणी भाग) सहोर या भागल नाम से प्रसिद्ध था। सहोर मांडलिक राज्य था, जिसकी राजधानी वर्तमान कहल गाँव या इसके पास ही कहीं थी। दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा कल्याणश्री इसके शासक थे। उस समय विहार-वङ्गाल पर पालवंश की विजयध्वजा फहरा रही थी। राजा कल्याणश्री भी उन्हीं के अधीन थे। राजधानी विक्रमपुरी (भगलपुरी या भागलपुर) के 'कांचनध्वज' राजप्रासाद में रानी श्रीप्रभावती ने भोटिया जल-पुरुष-अश्व वर्ष (चित्रभानु संवत्सर, ९८२ ईसवी) में एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया, जो आगे चल कर अपने ऐतिहासिक दीपंकर श्रीज्ञान नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा कल्याणश्री के तीन लड़कों में यह मँझला था। राजा ने लड़कों के नाम क्रमशः पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीगर्भ रक्खे थे। थोड़े दिन बाद चन्द्रगर्भ को रथ में बैठा पाँच सौ रथों के साथ माता-पिता उन्हें 'उत्तर तरफ' 'नातिदूर' विक्रमशिला-विहार में ले गये। लक्षणज्ञों ने बालक को देख कर अनेक प्रकार की भविष्यद्वाणियाँ कीं। तीन वर्ष की आयु में राजकुमार पढ़ने के लिए बैठाये गये, ग्यारह वर्ष की आयु में उन्होंने लेख व्याकरण और गणित भली भाँति पढ़ लिया।

आरम्भिक अध्ययन समाप्त कर लेने पर कुमार चन्द्रगर्भ ने भिक्षु बन कर निश्चिन्तता पूर्वक विद्या पढ़ने का संकल्प किया। वे एक दिन घूमते हुए जङ्गल में एक पहाड़ के पास जा निकले।

बङ्गदेशीय विद्वान् अतिशा को बङ्गवासी बतलाते हैं। 'बौद्ध गान औ दोहा' नामक पुस्तक की भूमिका मे महामहोपाध्याय हर-प्रसाद शास्त्री ने बँगला साहित्य को सातवीं-आठवीं शताब्दी में पहुँचाते हुए मूसुकु, जालधरी, कान्ह, सरह आदि सभी कवियों को बङ्गाली कहा है। यह कोई नवीन बात नहीं है। विद्यापति भी बहुत दिनों तक बङ्गाली ही बने रहे। कान्ह, सरह आदि चौरासी सिद्ध हिन्दी के आदि-कवि हैं। जिस प्रकार गोरखनाथ आदि एक-आध को छोड़ कर उन चौरासियों के नाम भी हमें नहीं मालूम हैं, उसी प्रकार हम उनकी कविता को भी भूल गये हैं। चौरासी सिद्धों की बात दूसरे वक्त के लिए छोड़ता हूँ[1]।

सहोर बङ्गाल में नहीं बिहार में है। सहोर वहीं है, जहाँ विक्रमशिला है। अभी तक किसी ने विक्रमशिला को बङ्गाल में ले जाने का साहस नहीं किया, फिर उसके दक्षिण 'नाति दूर' बसा नगर कैसे बङ्गाल में जा सकता है? महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भागलपुर-ज़िले के सुल्तानगंज को विक्रमशिला निश्चित किया है, जो मुझे भी ठीक जँचता है।

---

१. [लेखक का चौरासी सिद्धों विषयक तिब्बती वाङ्मय पर आश्रित अत्यन्त मौलिक लेख अब सुल्तानगंज, भागलपुर की 'गंगा' के पुरातत्त्वाङ्क में निकल चुका है, और उसका फ्रेंच अनुवाद भी यूनीव आज़ियातीक (Journal Asiatique) के लिए हो रहा है।]

मुसलमानों के आगमन से पूर्व विक्रमशिला वाला प्रदेश (भागलपुर जिले का दक्षिणी भाग) सहोर या भागल नाम से प्रसिद्ध था। सहोर मांडलिक राज्य था, जिसकी राजधानी वर्तमान कहल गाँव या इसके पास ही कहीं थी। दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजा कल्याणश्री इसके शासक थे। उस समय विहार-बङ्गाल पर पालवंश की विजयध्वजा फहरा रही थी। राजा कल्याणश्री भी उन्हीं के अधीन थे। राजधानी विक्रमपुरी (भगलपुरी या भागलपुर) के 'कांचनध्वज' राजप्रासाद में रानी श्रीप्रभावती ने भोटिया जल-पुरुष-अश्व वर्ष (चित्रभानु संवत्सर, ९८२ ईसवी) में एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया, जो आगे चल कर अपने ऐतिहासिक दीपंकर श्रीज्ञान नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा कल्याणश्री के तीन लड़कों में यह मँझला था। राजा ने लड़कों के नाम क्रमशः पद्मगर्भ, चन्द्रगर्भ और श्रीगर्भ रक्खे थे। थोड़े दिन बाद चन्द्रगर्भ को रथ में बैठा पाँच सौ रथों के साथ माता-पिता उन्हें 'उत्तर तरफ' 'नातिदूर' विक्रमशिला-विहार में ले गये। लक्षणज्ञों ने बालक को देख कर अनेक प्रकार की भविष्यद्वाणियाँ कीं। तीन वर्ष की आयु में राजकुमार पढ़ने के लिए बैठाये गये; ग्यारह वर्ष की आयु में उन्होंने लेख व्याकरण और गणित भली भाँति पढ़ लिया।

आरम्भिक अध्ययन समाप्त कर लेने पर कुमार चन्द्रगर्भ ने भिक्षु बन कर निश्चिन्तता-पूर्वक विद्या पढ़ने का संकल्प किया। वे एक दिन घूमते हुए जङ्गल में एक पहाड़ के पास जा निकले।

वहाँ उन्होंने सुना कि यहाँ एक कुटिया में महावैयाकरण महा-पण्डित जेतारि रहते हैं। राजकुमार उनके पास गये। उन्हें देख कर जेतारि ने पूछा—तुम कौन हो ? उन्होंने उत्तर दिया—मैं इस देश के स्वामी का पुत्र हूँ। जेतारि को इस कथन में अभिमान-सा प्रतीत हुआ, और उन्होंने कहा—हमारा स्वामी नहीं, दास नहीं, रक्षक नहीं ; तू धरणीपति है, तो चला जा। महावैरागी जेतारि के विषय में राजकुमार पहले ही सुन चुके थे, इसलिए उन्होंने बड़े विनयपूर्वक अपना अभिप्राय उन्हें बतलाया और गृहत्यागी होने की इच्छा प्रकट की। इस पर जेतारि ने उन्हें नालदा जाने का परामर्श दिया।

बौद्ध धर्म में माता-पिता की आज्ञा के बिना कोई व्यक्ति साधु (श्रामणेर या भिक्षु) नहीं बन सकता। चन्द्रगर्भ को इस आज्ञा की प्राप्ति मे कम कठिनाई नहीं हुई। आज्ञा मिल जाने पर वे अपने कुछ अनुचरों के साथ नालन्दा को गये। नालन्दा पहुँचने से पूर्व वे नालन्दा के राजा के पास (विहार शरीफ, पटना-ज़िला) गये। राजा ने सहोर के राजकुमार की बड़ी खातिर की और पूछा—विक्रमशिला-विहार पास में छोड़ कर, यहाँ क्यों आये ? कुमार ने इस पर नालन्दा की प्राचीनता और विशेषतायें बतलाईं। राजा ने नालन्दा-विहार में कुमार के रहने के लिए सुन्दर आवास का प्रबन्ध करा दिया। वहाँ से राजकुमार नालन्दा के स्थविर बोधिभद्र के पास पहुँचे। अभी वे बारह वर्ष से भी कम उम्र के थे। बौद्ध-नियमानुसार वे श्रामणेर ही बन सकते थे, भिक्षु होने

के लिए २० वर्ष से ऊपर का होना अनिवार्य था। आचार्य बोधिभद्र ने कुमार को श्रामणेर-दीक्षा दी, और पीले कपड़ों के साथ उनका नाम दीपंकर श्रीज्ञान पड़ा।

उस समय आचार्य बोधिभद्र के गुरु अवधूतीपाद (दूसरे नाम अद्वयवज्र, अवधूतीपा, मैत्रीगुप्त और मैत्रीपा) राजगृह में कालशिला के दक्षिण ओर एकान्त वास करते थे। वे एक बड़े पण्डित तथा सिद्ध थे। बोधिभद्र दीपंकर को आचार्य अवधूतीपा के पास ले गये, और उनकी स्वीकृति से उन्हें पढ़ने के लिए वहीं छोड़ आये। १२ से १८ वर्ष की अवस्था तक दीपङ्कर राजगृह में अवधूतीपाद के पास पढ़ते रहे। इस समय उन्होंने शास्त्रों का अच्छा अध्ययन किया।

१८ वर्ष की अवस्था हो जाने पर दीपङ्कर मन्त्र शास्त्र के विशेष अध्ययन के लिए अपने समय के बड़े तान्त्रिक, चौरासी सिद्धों में एक सिद्ध, विक्रमशिला के उत्तर-द्वार के द्वार-पण्डित नारोपा (नाडपाद) के पास पहुँचे। तब से २९ वर्ष तक उन्हीं के पास पढ़ते रहे। दीपङ्कर के अतिरिक्त प्रज्ञारक्षित, कनकश्री तथा मनकश्री (माणिक्य) भी नारोपा के प्रधान शिष्य थे। तिब्बत के महासिद्ध महाकवि जेचुन् मिला-रे-पा के गुरु मर-वा लोचवा भी नारोपा के ही शिष्य थे।

उस समय बुद्धगया महाविहार के प्रधान एक बड़े विद्वान् भिक्षु थे। इनका नाम तो और था, किन्तु वज्रासन (बुद्धगया)

हुआ, जो अपने भतीजे ल्ह-लामा येशे-ओ को राज्यभार सौंप अपने दोनों पुत्रों—देवराज तथा नागराज—के साथ भिक्षु हो गया (दशम शताब्दी ई०)।

राजा येशे-ओ (ज्ञानप्रभ) ने देखा कि तिब्बत में बौद्ध धर्म शिथिल होता जा रहा है, लोग धर्मतत्व को भूलते जा रहे हैं। इन्होने अनुभव किया कि अगर कोई सुधार न किया गया तो पूर्वजों द्वारा प्रज्वलित यह सुखद प्रदीप बुझ जायगा। यह सोच रत्नभद्र (रिन्-छेन् सङ्-पो, पीछे लो-छेन-रिम्पो-छे) प्रभृति २१ होनहार भोटिया बालकों को दस वर्ष तक देश में अच्छी शिक्षा दिला कर विद्याध्ययन के लिए कश्मीर भेज दिया। यहाँ पहुँच कर वे सब पंडित रत्नवज्र के पास पढ़ते रहे। किन्तु जब उन २१ में से सिर्फ दो—रत्नभद्र तथा सुप्रज्ञ (लेग्-प-शे-रब्) जीते लौट कर आये तब राजा को बड़ा खेद और निराशा हुई। फिर भी राजा ने हिम्मत न हारी। उन्होंने सोचा, भारत जैसे गर्म देश में ठंढे देश के आदमियों का जीना मुश्किल है, इस लिए किसी अच्छे पंडित को ही भारत से यहाँ बुलाना चाहिए। उस वक्त उन्हे यह भी मालूम हुआ कि इस समय विक्रमशिला-महाविहार में दीपंकर श्रीज्ञान नामक एक महापंडित हैं, यदि वे भोट-देश में आ जायँ तो सुधार हो सकता है। इस पर बहुत सा सोना दे कर कुछ आदमियों को विक्रमशिला भेजा। वे लोग वहाँ पहुँच कर दीपंकर की सेवा मे उपस्थित हुए, किन्तु उन्होंने भोट जाना अस्वीकार कर दिया।

इनके अतिरिक्त बहुत से देशी-विदेशी विद्यार्थी विद्याभ्यास के लिए आ कर निवास करते थे। दीपङ्कर के समय वहाँ के संघ-स्थविर रत्नाकर थे। शांतिभद्र, रत्नाकरशांति, मैत्रीपा (अवधूतीपा) डोम्बीपा, स्थविरभद्र, स्मृत्याकर सिद्ध (कश्मीरी) तथा अतिशा आदि आठ महापण्डित थे। विहार के मध्य में अवलोकितेश्वर (वोधि-सत्त्व) का मंदिर था। परिक्रमा में छोटे-बड़े ५३ तांत्रिक देवालय थे। यद्यपि राज्य में नालन्दा, उडन्तपुरी (उडन्त=उड़ती) और वज्रासन (बोधगया) तीन और महाविहार थे, तथापि विक्रमशिला पालवंशियों का विशेष कृपा-भाजन था। उस घोर तांत्रिक युग में यह मन्त्र-तन्त्र का गढ़ था। चौरासी सिद्धों में प्रायः सभी पालों के ही राज्यकाल में हुए हैं, उनमें अधिकांश का सम्बन्ध इसी विहार से था। अपने मन्त्र-तन्त्र, बलिप्रदान आदि हथियारों से इसने आक्रमणकारी 'तुरुष्कों' (तुर्कों) के साथ भी अच्छा लोहा लिया था। तिब्बती लेखकों के अनुसार यहाँ के सिद्धों ने अपने देवताओं और यक्षों की सहायता से उन्हें अनेक बार मार भगाया था।

तिब्बत-सम्राट् स्रोङ्-चन्-गम्बो और ठि-स्रोङ्-दे-चन् तथा उनके वंशजों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म फैलाने के लिए बहुत प्रयत्न किया था। अनुकूल परिस्थिति के न होने के कारण पीछे उन्हीं के वंशज ठि-क्यि-दे-जीमा-गोन् ल्हासा छोड़ कर ङरी प्रदेश (मान-सरोवर से लदाख की सीमा तक) में चले गये। वहाँ उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। इन्हीं का पौत्र राजा ल्ह-ल्दग्-खोर

हुआ, जो अपने भतीजे ल्ह-लामा येशे-ओ को राज्यभार सौंप अपने दोनों पुत्रों—देवराज तथा नागराज—के साथ भिक्षु हो गया (दशम शताब्दी ई०)।

राजा येशे-ओ (ज्ञानप्रभ) ने देखा कि तिब्बत में बौद्ध धर्म शिथिल होता जा रहा है, लोग धर्मतत्व को भूलते जा रहे हैं। इन्होंने अनुभव किया कि अगर कोई सुधार न किया गया तो पूर्वजों द्वारा प्रज्वलित यह सुखद प्रदीप बुझ जायगा। यह सोच रत्नभद्र (रिन्-छेन् सङ्-पो, पीछे लो-छेन-रिम्पो-छे) प्रभृति २१ होनहार भोटिया बालकों को दस वर्ष तक देश में अच्छी शिक्षा दिला कर विद्याध्ययन के लिए कश्मीर भेज दिया। यहाँ पहुँच कर वे सब पंडित रत्नवज्र के पास पढ़ते रहे। किन्तु जब उन २१ में से सिर्फ दो—रत्नभद्र तथा सुप्रज्ञ (लेग्-प-शे-रब्) जीते लौट-फेर आये तब राजा को बड़ा खेद और निराशा हुई। फिर भी राजा ने हिम्मत न हारी। उन्होंने सोचा, भारत जैसे गर्म देश में ठंढे देश के आदमियों का जीना मुश्किल है, इस लिए किसी अच्छे पंडित को ही भारत से यहाँ बुलाना चाहिए। उस वक्त उन्हे यह भी मालूम हुआ कि इस समय विक्रमशिला-महाविहार में दीपंकर श्रीज्ञान नामक एक महापंडित हैं, यदि वे भोट-देश में आ जायँ तो सुधार हो सकता है। इस पर बहुत सा सोना दे कर कुछ आदमियों को विक्रमशिला भेजा। वे लोग वहाँ पहुँच कर दीपंकर की सेवा में उपस्थित हुए, किन्तु उन्होंने भोट जाना अस्वीकार कर दिया।

भोट-राज येशे-ओ फिर भी हताश न हुए। उन्होंने अब की बार बहुत सा सोना जमा कर किसी पंडित को भारत से लाने के लिए आदमियों को फिर भेजने का निश्चय किया। उस समय उनके खजाने में पर्याप्त सोना न था, इसलिए सोना एकत्र करने के लिए वे आदमियों-सहित सीमान्त-स्थान में गये। वहाँ उनके पड़ोसी गरलोग् देश के राजा ने उन्हें पकड़ लिया।

पिता के पकड़े जाने का समाचार पा ल्हा-लामा चङ्-छुप्-ओ (बोधि-प्रभ) उनको छुड़ाने के लिए गर-लोग् गये। कहते हैं, गर-लोग् के राजा ने राजा को छोड़ने के लिए बहुत परिमाण में सोना माँगा। चङ्-छुप्-ओ ने जो सोना जमा किया वह अपेक्षित परिमाण से थोड़ा कम निकला। इस पर और सोना ले आने से पूर्व वे कारागार में अपने पिता से मिलने गये और उनसे सारी कथा कह सुनाई। राजा येशे-ओ ने उन्हें सोना देने से मना किया। कहा—तुम जानते हो, मैं बूढ़ा हूँ; यदि तत्काल न मरा तो भी दश वर्ष से अधिक जीना मेरे लिए असम्भव है; सोना दे देने पर हम भारत से पंडित न बुला सकेंगे और न धर्म के सुधार का काम कर सकेंगे; कितना अच्छा है, यदि धर्म के लिए मेरा अन्त यहीं हो, और तुम सारा सोना भारत भेज कर पंडित बुलाओ; राजा का भी क्या विश्वास है कि वह सोना पा कर मुझे छोड़ ही देगा? अतः पुत्र, मेरी चिन्ता छोड़ो और सोना दे कर आदमियों को भारत में अतिशा के पास भेजो; भोट में धर्म-चिरस्थिति तथा मेरी क़ैद से, आशा है, वे महापंडित हमारे देश पर कृपा करेंगे;

यदि वे किसी प्रकार न आ सकें तो उनके नीचे के किसी दूसरे पंडित को ही बुलाना। यह कह धर्मवीर येशे-ओ ने पुत्र के सिर पर हाथ फेर आशीर्वाद दिया। पुत्र ने भी उस महापुरुष से अन्तिम विदाई ली।

ल्हा-लामा चङ्-छुप्-ओ ने राज्य-भार सँभालने के साथ ही भारत भेजने को आदमी ठीक किये। उपासक गुङ्-थङ्-पा भारत में पहले भी दो वर्ष रह आये थे, उन्हीं को राजा ने यह भार सौंपा। गङ्-थङ्-पा ने नग-छो निवासी भिक्षु छुल्-ठिम्-ग्यल्-वा (शीलविजय) को कुछ दूसरे अनुयायियों के साथ अपना सह-यात्री बनाया। ये दस आदमी नेपाल के रास्ते से सीधा विक्रम-शिला पहुँचे। (डोम-तोन्-रचित गुरु-गुण धर्माकर, पृष्ठ ७७)। जिस समय वे गंगा के घाट पर पहुँचे, सूर्यास्त हो चुका था। मल्लाह फिर आने की बात कह भरी नाव को दूसरे पार उतारने गया। यात्री गंगा पार विक्रमशिला के ऊँचे 'गंधोला' को देख कर अपने मार्ग-कष्ट को भूल गये थे। परन्तु देर होने से उन्हें सन्देह होने लगा कि मल्लाह नहीं लौटेगा। सुनसान नदी-तट पर बहुत सा सोना लिये उन्हें भय मालूम होने लगा। उन्होंने सोने को बालू में दबा दिया, और रात वहीं बिताने का प्रबन्ध करना शुरू कर दिया। थोड़ी देर में मल्लाह आ गया। यात्रियों ने कहा—हम तो तुम्हारी देरी से समझने लगे थे कि अब नहीं आओगे। मल्लाह ने कहा—तुम्हें घाट पर पड़ा छोड़ मैं कैसे राज-नियमों का उल्लंघन कर सकता हूँ। नाव आगे बढ़ाते हुए मल्लाह ने उन्हें

उनकी अन्तिम कामना कह सुनाई। दीपंकर इससे बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—निस्संदेह भोट-राज येशे-ओ बोधिसत्व थे; मैं उनकी कामना भंग नहीं कर सकता, किन्तु तुम जानते हो मेरे ऊपर १०८ देवालयों के प्रबन्ध का भार तथा दूसरे बहुत से काम हैं; इनसे छुट्टी लेने में १८ मास लगेंगे, फिर मैं चल सकूँगा; अभी यह सोना अपने पास ही रक्खें।

इसके बाद भोट-यात्री पढ़ने का बहाना करके वहाँ रहने लगे। आचार्य दीपंकर भी अपने प्रबन्ध में लगे। समय पा उन्होंने सघस्थविर रत्नाकरपाद से सब बातें कहीं। रत्नाकर इसके लिए सहमत होने को तैयार न हो सकते थे। उन्होंने एक दिन भोट-सज्जनों से भी कहा—भोट आयुष्मन्, आप लोग अपने को पढ़ने के लिए आया कहते हैं; क्या आप लोग अतिशा को ले जाने को तो नहीं आये हैं? इस समय अतिशा 'भारतीयों की आँख' हैं; देख नहीं रहे हो, पश्चिम-दिशा में 'तुरुष्कों' का उपद्रव हो रहा है[1]; यदि इस समय अतिशा चले गये तो भगवान् का धर्मसूर्य भी यहाँ से अस्त हो जायगा।

बहुत कठिनताई से सघस्थविर से जाने की अनुमति मिली। अतिशा ने सोना मँगाया। उसमें से एक चौथाई पंडितों के लिए, दूसरी चौथाई वज्रासन (बुद्धगया) में पूजा के लिए, तीसरी

१. [तब महमूद गज़नवी की मृत्यु हुए कुछ ही बरस बीते थे; मध्य एशिया में भी इस्लाम और बौद्ध-धर्म का मुकाबला जारी था।]

बतलाया कि इस वक्त फाटक बन्द हो गये हैं, आप लोग पश्चिम फाटक के बाहर की धर्मशाला में विश्राम करें, सवेरे द्वार खुलने पर विहार मे जायँ।

यात्री आखिर पश्चिमी धर्मशाला मे पहुँच गये। वे वहाँ अपने रात्रिवास का प्रबन्ध कर रहे थे कि उसी समय फाटक के ऊपरवाले कोठे से भिक्षु ग्य-चोन्-सेङ् ने उनकी बात-चीत सुनी। अपना स्वदेशी जान उसने उनसे बात-चीत करते हुए पूछा कि आप लोग किस अभिप्राय से यहाँ आये हैं। उन्होंने कहा—अतिशा को ले जाने के लिए आये हैं। ग्य-चोन ने उन्हें सलाह देते हुए कहा—आप लोग कहे कि पढ़ने के लिए आये हैं; नहीं तो यह बात और लोगों को मालूम हो जाने पर अतिशा को ले जाना कठिन हो जायगा; मौका पाकर मैं आप लोगों को अतिशा के पास ले जाऊँगा; फिर जैसी उनकी सम्मति हो, वैसा करना।

आने के कुछ दिनों के बाद पंडितों की सभा होने वाली थी। ग्य-चोन् सब का पंडितों का दर्शन कराने के लिए ले गया। वहाँ उन्होंने विक्रमशिला के महापंडितों तथा अतिशा के नीचे के रत्नकीर्ति, तथागतरक्षित, सुमतिकीर्ति, वैरोचनरक्षित, कनकश्री आदि पंडितों को देखा। उसी समय उन्हें यह भी मालूम हो गया कि यहाँ की पंडितमंडली में अतिशा का कितना सम्मान है।

इसके कुछ दिन बाद एकान्त पा ग्य-चोन् उन्हें अतिशा के निवास पर ले गया। उन्होंने अतिशा को प्रणाम कर सारा सुवर्ण रख दिया, और भोट-राज ये-शे-ओ के बन्दी होने की बात तथा

उनकी अन्तिम कामना कह सुनाई। दीपंकर इससे बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—निस्संदेह भोट-राज येशे-ओ बोधिसत्व थे; मैं उनकी कामना भंग नहीं कर सकता, किन्तु तुम जानते हो मेरे ऊपर १०८ देवालयों के प्रबन्ध का भार तथा दूसरे बहुत से काम हैं; इनसे छुट्टी लेने में १८ मास लगेंगे, फिर मैं चल सकूँगा; अभी यह सोना अपने पास ही रक्खें।

इसके बाद भोट-यात्री पढ़ने का बहाना करके वहाँ रहने लगे। आचार्य दीपंकर भी अपने प्रबन्ध में लगे। समय पा उन्होंने संघस्थविर रत्नाकरपाद से सब बातें कहीं। रत्नाकर इसके लिए सहमत होने को तैयार न हो सकते थे। उन्होंने एक दिन भोट-सज्जनों से भी कहा—भोट आयुष्मन्, आप लोग अपने को पढ़ने के लिए आया कहते हैं; क्या आप लोग अतिशा को ले जाने को तो नहीं आये हैं? इस समय अतिशा 'भारतीयों की आँख' हैं; देख नहीं रहे हो, पश्चिम-दिशा में 'तुरुष्कों' का उपद्रव हो रहा है[1]; यदि इस समय अतिशा चले गये तो भगवान् का धर्मसूर्य भी यहाँ से अस्त हो जायगा।

बहुत कठिनताई से संघस्थविर से जाने की अनुमति मिली। अतिशा ने सोना मँगाया। उसमें से एक चौथाई पंडितों के लिए, दूसरी चौथाई वज्रासन (बुद्धगया) में पूजा के लिए, तीसरी

१. [तब महमूद ग़ज़नवी की मृत्यु हुए कुछ ही बरस बीते थे; मध्य एशिया में भी इस्लाम और बौद्ध-धर्म का मुकाबला जारी था।]

रत्नाकरपाद के हाथ में विक्रमाशिला-संघ के लिए और शेष चौथाई राजा को दूसरे धार्मिक कृत्यों के लिए बाँट दिया। फिर अपने आदमियों को कुछ भोट-जनों के साथ ही पुस्तकें तथा दूसरी आवश्यक चीजें दे नेपाल की ओर भेज दिया। और आप अपने तथा लोचवा [1] के आदमियों के साथ—कुल बारह जन बुद्धगया की ओर चले।

वज्रासन तथा दूसरे तीर्थस्थानों का दर्शन कर पंडित क्षिति-गर्भ आदि के साथ बीस आदमियों की मण्डली ले आचार्य दीपंकर भारत-सीमा के पास एक छोटे से विहार में पहुँचे। दीपंकर का शिष्य डोम्-तोन् अपने ग्रन्थ गुरु-गुणधर्माकर में लिखता है—स्वामी के भोट-प्रस्थान के समय भारत का (बुद्ध) शासन, अस्त होने वाला सा था। भारत की सीमा के पास अतिशा को किसी कुतिया के तीन अनाथ छोटे छोटे बच्चे पड़े दिखाई दिये। साठ वर्ष के बूढ़े संन्यासी ने किन्हीं अनिर्वचनीय भावों से प्रेरित हो मातृभूमि के अन्तिम चिह्न-स्वरूप इन्हें अपने चीवर (भिक्षु-परिधानवस्त्र) में उठा लिया। कहते हैं, आज भी उन कुत्तों की जाति डाङ् प्रदेश में वर्तमान है।

भारत-सीमा पार हो अतिशा की मंडली नेपाल राज्य में प्रविष्ट हुई। धीरे धीरे वह राजधानी में पहुँची। राजा ने बहुत

---

१. [भारतीय पंडित के सहायक तिब्बती दुभाषिये लोचवा कहलाते थे।]

सम्मान के साथ उसको अपना अतिथि बनाया। उसने अपने देश में रहने के लिए बहुत आग्रह किया। इसी आग्रह में अतिशा को एक वर्ष नेपाल में रह जाना पड़ा। उस वक्त और धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त उन्होंने एक राजकुमार को भिक्षु बनाया, तथा वहीं से गौडेश्वर महाराज नेपाल को एक पत्र लिखा, जिसका अनुवाद आज भी तंज्यूर में वर्तमान है।

नेपाल से प्रस्थान कर जिस वक्त दीपंकर अपने अनुचरों सहित थुङ्-विहार में पहुँचे, भिक्षु ग्य-चोन्-सेङ् की बीमारी से उन्हें वहाँ ठहरना पड़ा। बहुत उपाय करने पर भी ग्य-चोन् न बच सके। ग्य-चोन् जैसे विद्वान् बहुश्रुत दुभाषिया प्रिय शिष्य की मृत्यु से आचार्य को अपार दुःख हुआ। निराश हो कर उन्होंने कहा—अब मेरा भोट जाना निष्फल है; बिना लोचवा के मैं वहाँ जा कर क्या करूँगा। इस पर शीलविजय आदि दूसरे लोचवों ने उन्हें बहुत समझाया।

मार्ग में कष्ट न होने देने के लिए राजा चङ्-छुप्-ओ ने अपने राज्य में सब जगह प्रबन्ध कर दिया था। भोट-निवासी साधारण गृहस्थ भी इस भारतीय महापंडित के दर्शन के लिए लालायित थे। इस प्रकार भोट-जनों को धर्म-मार्ग बतलाते हुए आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान जल-पुरुष-अश्व वर्ष (चित्रभानु संवत्सर, १०४२ ई०) में ६१ वर्ष की अवस्था में ङरी (=पश्चिमी तिब्बत) में पहुँचे। राजधानी थोलिङ् में पहुँचने से पूर्व ही राजा अगवानी के लिए आया। बड़ी स्तुति और सत्कार के साथ उन्हें वह थोलि-

दीपंकर श्रीज्ञान (अतिशा)
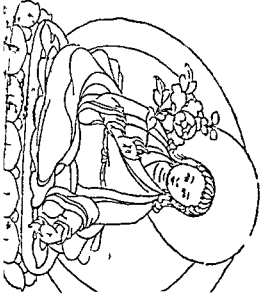
§ ४. तिब्बत में शिक्षा

गृहस्थ और भिक्षु दोनों श्रेणियों के अनुसार तिब्बत में शिक्षा का क्रम भी विभाजित है। भिक्षुओं की शिक्षा के लिए हजारों छोटे-बड़े मठ या विद्यालय हैं। कहीं, कहीं गृहस्थ विद्यार्थी भी व्याकरण, साहित्य, वैद्यक और ज्योतिष की शिक्षा पाते हैं, लेकिन ऐसा प्रबन्ध कुछ धनी और प्रतिष्ठित वंशों तक ही परिमित है। हाँ, कितनी ही बार पढ़-लिख कर भिक्षु भी गृहस्थ हो जाते हैं और इस प्रकार गृहस्थ श्रेणी उनकी शिक्षा से लाभ उठाती है। मठों के पढ़े हुए भिक्षु गृहस्थों के बालकों के शिक्षक का काम भी करते हैं। किन्तु नियमानुसार धनी या गरीब गृहस्थ जन इन मठों मे, जिनमे कितने ही बड़े बड़े विश्वविद्यालय हैं प्रवेश नहीं पाते।

भिक्षुओं की शिक्षा।

तिब्बत भिक्षुओं का देश है। यही नहीं कि इसका शासन भिक्षु-संघ के प्रधान और बड़े मठाचार्यों द्वारा होता है, बल्कि प्रायः जन सख्या का पंचमांश गृह-त्यागी भिक्षुओं के रूप में है। शायद ही ऐसा कोई गाँव हो, जहाँ एक दो भिक्षु और पर्वत की बाँही पर टँगा एक छोटा मठ न हो। आठ से बारह बरस की अवस्था में भिक्षु बनने वाले बालक मठों में चले जाते हैं। अवतारी लामा तो—जो कि किसी प्रसिद्ध महात्मा या बोधिसत्व के अवतार समझे जाते हैं—और भी पहले ही अपने मठ में चले जाते हैं। छोटे मठों मे वे अपने गुरु के पास पढ़ते हैं।

किसी ऐसे ही मध्यम श्रेणी के मठ या योग्य अध्यापक के पास विशेष शिक्षा लेनी पड़ती है। इस शिक्षा को हम लोग अपने यहाँ की माध्यमिक शिक्षा कह सकते हैं। इस समय वे तर्क बौद्ध-दर्शन और काव्य के प्रारम्भिक ग्रन्थों को पढ़ते हैं। पुस्तकों का स्मरण खास कसौटी है। यद्यपि विद्यार्थी अक्सर श्रेणियों में विभक्त होकर पढ़ते हैं लेकिन छमाही नौमाही परीक्षाओं की प्रथा नहीं है। इसकी जगह अक्सर गुट्ट बाँध कर विद्यार्थी अपने अपने विषय पर शास्त्रार्थ करते हैं। समय समय पर अध्यापक पठित विषय में विद्यार्थी से कोई प्रश्न पूछ लेता है। उत्तर असंतोष-जनक होने पर वह उसे दण्ड देता है और नया पाठ नहीं पढ़ाता। पुस्तक समाप्त हो जाने पर विद्यार्थी उस विषय के उच्चतर ग्रन्थ को लेता है। इस समय यदि विद्यार्थी की रुचि चित्रण, मूर्ति-निर्माण या काष्ठ-तक्षण कला की ओर होती है तो वह इनमें भी अपना समय देता है। इन विषयों के सीखने का प्रबन्ध सभी मठों में होता है।

और भी ऊँची शिक्षा पाने के इच्छुक विद्यार्थी किसी मठीय विश्वविद्यालय में चले जाते हैं जिनकी संख्या चार है—(१) गन्-दन् (ल्हासा से दो दिन के रास्ते पर), (२) डे-पुङ् (ल्हासा के पास, १४१६ ई० में स्थापित), (३) से-र (ल्हासा के पास, १४१९ ई० में स्थापित), (४) ट-शि-ल्हुन-पो (चङ्-प्रदेश में १४४७ ई० में स्थापित)। ये चारो विश्वविद्यालय मध्य तिब्बत में हैं। सम्-ये का मठ तिब्बत में सब से पुराना है। यह ल्हासा से

तीन दिन के रास्ते पर अवस्थित है। इसकी स्थापना ७७१ ई० में नालन्दा के महान् दर्शनिक आचार्य शान्तरक्षित द्वारा हुई थी। शताब्दियों तक यह तिब्बत की नालन्दा रही। लेकिन अब उसका वह स्थान नहीं रहा। उक्त चार विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त पूर्वी तिब्बत में तेर्गी (१५४८ ई० में स्थापित) और चीनी सीमा के पास अम्-दो प्रदेश में स्कु-बुम् (१५७८ ई० में स्थापित) दो और विद्या-केन्द्र हैं। तिब्बत के इन विश्वविद्यालयों मे बडी बडी जागीरें लगी हुई हैं और यात्री लोग भी छोटा मोटा दान देना अपना धर्म समझते हैं। कुछ हद तक ये अपने विद्यार्थियों को भी आर्थिक सहायता देते हैं। प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिये बहुत गुन्जाइश है, क्योंकि अध्यापक और मूखन्-पो (प्रमुख अध्यापक, डीन) अपने ऐसे विद्यार्थियों से बहुत प्रेम रखते हैं; और उन्हे आगे बढ़ाने में अपना और अपनी संस्था का गौरव समझते हैं। कम प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को अपने परिवार या गुरू के मठ की सहायता पर निर्भर रहना पडता है।

तिब्बत के ये मठीय विश्वविद्यालय विशाल शिक्षण-सस्थाये हैं, जिनमे हजारों विद्यार्थी दूर दूर से आ कर पढ़ते हैं। डे-पुङ् सब से बडा है, जिसमें सात हजार सात सौ से ऊपर विद्यार्थी रहते हैं। से-रा विश्वविद्यालय में इनकी संख्या साढ़े पाँच हजार से ऊपर है। गन्-दन् और ट-शि-ल्हुन्-पो विश्वविद्यालयो में से प्रत्येक में तीन हजार तीन सौ से अधिक विद्यार्थी वास करते हैं। ट-शि-लामा के चले जाने के कारण ट-शि-ल्हुन्-पो के छात्रों की संख्या

कुछ कम हो गई है। इनके महाविद्यालयों और छात्रावासों के विषय में मैंने अन्यत्र लिखा है, इसलिए उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। इनमें उत्तर में साइबेरिया, पश्चिम में अस्त्राखान (दक्षिणी रूस) और चीन के जेहोल प्रान्त तक के विद्यार्थी देखने में आते हैं। महाविद्यालयों की तरह इनके छात्रावासों में भी छोटी मोटी जागीरें लगी हुई हैं और उनके अलग पुस्तकालय और देवालय हैं। अपने अपने छात्रावासों का प्रबन्ध वहाँ के रहने वाले विद्यार्थी और अध्यापक करते हैं। छोटे से छाटे छात्रावास में भी कुछ सामूहिक सम्पत्ति ज़रूर रहती है।

ऊपरी श्रेणियों में अध्ययन अधिक गम्भीर है। ग्रन्थों के रटने की यहाँ भी वैसी ही परिपाटी है। विद्यार्थियों के न्याय और दर्शन सम्बन्धी शास्त्रार्थों में लोग वैसी ही दिलचस्पी लेते हैं जैसे हमारे यहाँ क्रिकेट और फुटबालों के खेलों में। यद्यपि ड-सङ् या महाविद्यालयों के मुखन्-पो सदा ही उच्च कोटि के विद्वानों में से चुने जाते हैं, तो भी वे अध्यापन का काम बहुत कम करते हैं। अध्यापन का कार्य गेर्-गेन् (लेक्चरर) और गे-शे (प्रोफ़ेसर) करते हैं। अध्ययन समाप्त हो जाने पर विद्वन्मडली की शिफ़ारिश पर योग्य व्यक्ति को ल्ह-रम्-पा या डाक्टर की उपाधि मिलती है। फिर छात्र अपने मठों को लौटते हैं। जिन्हें पढ़ने-पढ़ाने का अधिक शौक होता है वे अपने विश्वविद्यालय ही में गे-शे या गेर्-गेन् होकर रह जाते हैं।

तिब्बत में भिक्षुणियों के भी सैकड़ों मठ हैं जहाँ पर भिक्षुणी विद्यार्थिनियों के पढ़ने का प्रबन्ध है। ये भिक्षुणी-मठ भिक्षु-मठों से सर्वथा स्वतंत्र और दूरी पर अवस्थित हैं। साधारण शिक्षा का यद्यपि इनमें भी प्रबन्ध है तो भी भिक्षु-विश्वविद्यालयों जैसा न इनमें उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है, और न भिक्षुणियाँ भिक्षु-विश्वविद्यालयों में जाकर पढ़ सकती हैं। उनकी शिक्षा अधिकतर साहित्य धर्म और पूजा-पाठ के विषय की होती है।

भिक्षुणियों की शिक्षा

यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा, गृहस्थ छात्र मठीय विश्व-विद्यालयों में दाखिल नहीं हो सकते तो भी मठों के पढ़े छात्र घरों में जाकर अध्या-पन का कार्य कर सकते हैं। कोई भी गृहस्थ-छात्र इन विश्वविद्यालयों में पुस्तक तो पढ़ सकता है किन्तु नियमानुसार छात्रावासों में रहने के लिये स्थान नहीं पा सकता। इसलिए वे उनसे फायदा नहीं उठा सकते। बहुत ही कम ऐसा देखने में आता है कि कोई कोई उत्कृष्ट विद्वान् भिक्षु-आश्रम छोड़ कर गृहस्थ होजाता हो क्योंकि विश्वविद्यालयों और सरकारी नौकरियों में (जिनमें भिक्षुओं के लिए आधे स्थान सुरक्षित हैं) इनकी बड़ी माँग है। तिब्बत मे जिला मजिस्ट्रेट से लेकर सभी ऊँचे सरकारी पदों पर जोड़े अफसर होते हैं, जिनमें एक अवश्य भिक्षु होता है। उदाहरणार्थ ल्हासा नगर के तारघर को ले लीजिए, जिसके दो अफसरों मे एक मेरे मित्र कुशो-तन्-दर् भिक्षु हैं। धनी

गृहस्थों की शिक्षा

खानदानों के बालक बालिका अपने घर के लामा से लिखना पढ़ना सीखते हैं। बालिकाओं को इस आरम्भिक शिक्षा पर ही संतोष करना पड़ता है। हाँ भिक्षुणी होने की इच्छा होने पर कुछ और भी पढ़ती हैं। साधारण श्रेणी की स्त्रियों में लिखने पढ़ने का अभाव सा है। धनी लोग अपने लड़कों को पढ़ाने के लिए खास अध्यापक रखते हैं, लेकिन गरीबों के लड़के या तो अपने बड़ों से लिखना-पढ़ना सीखते हैं अथवा गांव के मठ के भिक्षु से। ल्हासा और शी-गर्चे जैसे कुछ नगरों में अध्यापकों ने अपने निजी विद्यालय खोल रखे हैं। इनमें लड़कों का कुछ शुल्क देना पड़ता है। यहाँ भी पढ़ने का क्रम भिक्षुओं जैसा ही है। हाँ यहाँ दर्शन और न्याय का बिल्कुल अभाव रहता है। ल्हासा में अफसरों की शिक्षा के लिए ची-खन् नामक एक विद्यालय है, जिसमें हिसाब-किताब और बही-खाता का ढंग सिखलाया जाता है। इन्हीं विद्यालयों में से सरकार अपने अफसर चुनती है। कई वर्ष पहले सरकार ने ग्यान्-ची में एक अंग्रेजी स्कूल खोला था और उसमे बहुत से सरदारों ने अपने लड़के पढ़ने के लिए भेजे थे, किन्तु आरम्भ ही मे मोटी-मोटी तनख्वाह के अंग्रेज़ तथा दूसरे अध्यापक नियुक्त किये गए, जिसके कारण सरकार उसे आगे न चला सकी। दो चार विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए सरकार की ओर से इङ्गलैण्ड भी भेजे गए। किन्तु उनकी शिक्षा आशानुरूप न हुई, इसलिए सरकार ने इस क्रम को भी बन्द कर दिया।

संक्षेप में तिब्बत में शिक्षा की अवस्था यह है। और बातों की

तरह शिक्षा के विषय में भी बाहरी दुनियाँ का तिब्बत में बहुत कम असर पड़ा है। इसमें शक नहीं कि तिब्बत में वह सब मशीन मौजूद है जिसमें नई जान डाल कर तिब्बत को बहुत थोड़े समय में नये ढंग से शिक्षित किया जा सके।

§ ५. तिब्बती खानपान, वेषभूषा

पूर्व में चीन की सीमा से पश्चिम में लदाख तक फैला हुआ तिब्बत देश है। यह चारों ओर पहाड़ों से घिरा और समुद्र तल से औसतन बारह हज़ार फुट से अधिक ऊँचा है। इसी से यहाँ सर्दी बहुत पड़ती है। इस सर्दी की अधिकता तथा अधिक ऊँचाई से वायु के पतला होने के कारण यहाँ वनस्पतियों की दरिद्रता है। सर्दी का कुछ अनुमान तो इससे ही हो जायगा कि मई और जून के गर्म महीनों में भी ल्हासा को घेरने वाले पर्वतों पर अकसर बर्फ पड़ जाती है; जाड़े का तो कहना ही क्या? हिमालय की विशाल दीवार मार्ग में अवरोधक होने से भारतीय समुद्र से चली हुई मेघमाला स्वच्छन्दतापूर्वक यहाँ नहीं पहुँच सकती; यही कारण है जो यहाँ वृष्टि अधिक नहीं होती है, बर्फ ही ज़्यादा पड़ती है। सर्दी हड्डी को छेद कर पार हो जाने वाली है।

ऋतु की इतनी कठोरता के कारण मनुष्यों को अधिक परिश्रमी और साहसी होना आवश्यक ही ठहरा। सिंहल की भाँति एक सारोंग (तहमत, लुङ्गी) से तो यहाँ काम नहीं चल सकता, यहाँ तो बारहों मास मोटी ऊनी पोशाक चाहिए। जाड़े में तो

में बंधे पड़े रहते हैं। पिंजड़े से बाहर जंजीर में बँधे बाघ के समीप जाना जैसा मुश्किल मालूम होता है, वैसे ही यहाँ के कुत्तों के समीप जाना। इन बड़ी जाति के कुत्तों के अतिरिक्त छोटी जाति के भी दो तरह के कुत्ते हैं। इनमें ल्हासा के मुँह पर बाल और बे बाल वाले छोटे कुत्ते बहुत ही सुन्दर और समझदार होते हैं। यहाँ दो तीन रुपये में मिलने वाले कुत्ते दार्जिलिङ्ग में ६०, ७० रुपये तक बिक जाते हैं। ये छोटे कुत्ते अमीरों के ही पास अधिक रहते हैं, इसलिए इनकी आव भगत अधिक होती है।

§ ६. तिब्बत में नेपाली

नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत पुराना है। ईसा की सातवीं शताब्दी से एक प्रकार से तिब्बत का ऐतिहासिक काल शुरू होता है। उस समय भी नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत पक्का दिखाई पड़ता है। यही समय तिब्बत के उत्कर्ष का है। इस समय तिब्बत के सम्राट् स्रोङ्-चन-गम्बो ने जहाँ एक तरफ नेपाल पर अपनी विजय-वैजयन्ती फैला वहाँ की राजकुमारी से व्याह किया, वहाँ दूसरी ओर चीन के कितने ही सूबों को तिब्बत-साम्राज्य में मिला चीन सम्राट् को अपनी लड़की देने पर मजबूर किया। इससे पूर्व, कहते हैं, भोट में लेखन-कला न थी। स्रोङ्-चन ने सम्भोटा को अक्षर सीखने के लिए नेपाल भेजा, जहाँ से वह अक्षर सीख कर पीछे तिब्बती अक्षर निर्माण करने में समर्थ हुआ। नेपाल राजकुमारी के साथ ही तिब्बत में बौद्ध

धर्म ने प्रवेश किया, और राजनीतिक विजेता का धार्मिक पराजय हो गया। आज भी नेपाल की वह राजकुमारी तारा देवी अवतार की तरह तिब्बत में पूजी जाती है। तिब्बत के सभ्यता में दीक्षित करने में नेपाल प्रधान है।

इसके अलावा नेपाल उपत्यका के पुराने निवासी नेवारों की भाषा तिब्बती भाषा के बहुत सन्निकट है। भाषा तत्वज्ञों ने नेवारी भाषा को तिब्बत-बर्मी शाखा की भाषाओं में से माना है। तिब्बती में सिउ मा री (कोई नहीं है) कहेंगे तो नेवारी में सु मारो। नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक है, इसमें सन्देह नहीं। सम्राट् स्रोङ् चैन ने ही ल्हासा को राजधानी बनाई। उसके १०० वर्ष बाद आठवीं शताब्दी के मध्य में भोट राज स्रोङ्-दे-चन ने नालन्दा के आचार्य शान्त रक्षित को धर्म प्रचार के लिए बुलाया, और इस प्रकार भारतीय धर्म प्रचारकों के लिए जो द्वार खुला वह बारहवीं शताब्दी में भारत के मुसलमानों द्वारा विजित होने तथा नालन्दा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयों के नष्ट होने तक बन्द न हुआ। इन शताब्दियों में आजकल का दार्जिलिंग-ल्हासा वाला छोटा रास्ता मालूम न था। भोट से भारत के लिए तीर्थ-यात्रा करने वाले तथा भारत से भोट में प्रचार करने के लिए जाने वाले सभी को नेपाल के मार्ग ही जाना पड़ता था। धर्म के सम्बन्ध में जैसा नेपाल मध्य स्थान रखता था, वैसा ही व्यापार के सम्बन्ध में भी। भोट की चीजों को भारत और भारत

में बधे पड़े रहते हैं। पिंजड़े से बाहर जंजीर में बँधे बाघ के समीप जाना जैसा मुश्किल मालूम होता है, वैसे ही यहाँ के कुत्तों के समीप जाना। इन बड़ी जाति के कुत्तों के अतिरिक्त छोटी जाति के भी दो तरह के कुत्ते हैं। इनमें ल्हासा के मुँह पर बाल और बे बाल वाले छोटे कुत्ते बहुत ही सुन्दर और समझदार होते हैं। यहाँ देढ़ तीन रुपये में मिलने वाले कुत्ते दार्जिलिङ्ग में ६०, ७० रुपये तक बिक जाते हैं। ये छोटे कुत्ते अमीरों के ही पास अधिक रहते हैं, इसलिए इनकी आव भगत अधिक होती है।

§ ६. तिब्बत में नेपाली

नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत पुराना है। ईसा की सातवीं शताब्दी से एक प्रकार से तिब्बत का ऐतिहासिक काल शुरू होता है। उस समय भी नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत पक्का दिखाई पड़ता है। यही समय तिब्बत के उत्कर्ष का है। इस समय तिब्बत के सम्राट् स्रोङ्-चन-गम्बो ने जहाँ एक तरफ नेपाल पर अपनी विजय-वैजयन्ती फैला वहाँ की राज-कुमारी से व्याह किया, वहाँ दूसरी ओर चीन के कितने ही सूबों को तिब्बत-साम्राज्य में मिला चीन सम्राट् को अपनी लड़की देने पर मजबूर किया। इससे पूर्व, कहते हैं, भोट में लेखन-कला न थी। स्रोङ्-चन ने सम्भोटा को अक्षर सीखने के लिए नेपाल भेजा, जहाँ से वह अक्षर सीख कर पीछे तिब्बती अक्षर निर्माण करने में समर्थ हुआ। नेपाल राजकुमारी के साथ ही तिब्बत में बौद्ध

धर्म ने प्रवेश किया, और राजनीतिक विजेता का धार्मिक पराजय हो गया। आज भी नेपाल की वह राजकुमारी तारा देवी अवतार की तरह तिब्बत में पूजी जाती है। तिब्बत को सभ्यता मे दीक्षित करने मे नेपाल प्रधान है।

इसके अलावा नेपाल उपत्यका के पुराने निवासी नेवारों की भाषा तिब्बती भाषा के बहुत सन्निकट है। भाषा तत्वज्ञों ने नेवारी भाषा को तिब्बत-बर्मी शाखा की भाषाओं में से माना है। तिब्बती में सिउ मा री (कोई नहीं है) कहेंगे तो नेवारी में सु मारो। नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक है, इसमें सन्देह नहीं। सम्राट् स्रोङ्-चैन ने ही ल्हासा को राजधानी बनाई। उसके १०० वर्ष बाद आठवीं शताब्दी के मध्य में भोट राज स्रोङ्-दे-चन ने नालन्दा के आचार्य शान्त रक्षित को धर्म प्रचार के लिए बुलाया, और इस प्रकार भारतीय धर्म प्रचारकों के लिए जो द्वार खुला वह बारहवीं शताब्दी में भारत के मुसलमानों द्वारा विजित होने तथा नालन्दा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयों के नष्ट होने तक बन्द न हुआ। इन शताब्दियों में आजकल का दार्जिलिंग-ल्हासा वाला छोटा रास्ता मालूम न था। भोट से भारत के लिए तीर्थ-यात्रा करने वाले तथा भारत से भोट में प्रचार करने के लिए जाने वाले सभी को नेपाल के मार्ग ही जाना पड़ता था। धर्म के सम्बन्ध में जैसा नेपाल मध्य स्थान रखता था, वैसा ही व्यापार के सम्बन्ध में भी। भोट की चीजों को भारत और भारत

में बंधे पड़े रहते हैं। पिंजड़े से बाहर जजीर में बँधे बाघ के समीप जाना जैसा मुश्किल मालूम होता है, वैसे ही यहाँ के कुत्तों के समीप जाना। इन बड़ी जाति के कुत्तों के अतिरिक्त छोटी जाति के भी दो तरह के कुत्ते हैं। इनमें ल्हासा के मुँह पर बाल और बे बाल वाले छोटे कुत्ते बहुत ही सुन्दर और समझदार होते हैं। यहाँ दो तीन रुपये में मिलने वाले कुत्ते दार्जिलिङ्ग में ६०, ७० रुपये तक बिक जाते हैं। ये छोटे कुत्ते अमीरों के ही पास अधिक रहते हैं, इसलिए इनकी आव भगत अधिक होती है।

§ ६. तिब्बत में नेपाली

नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत पुराना है। ईसा की सातवीं शताब्दी से एक प्रकार से तिब्बत का ऐतिहासिक काल शुरू होता है। उस समय भी नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध बहुत पक्का दिखाई पड़ता है। यही समय तिब्बत के उत्कर्ष का है। इस समय तिब्बत के सम्राट् स्रोङ्-चन-गम्बो ने जहाँ एक तरफ नेपाल पर अपनी विजय-वैजयन्ती फैला वहाँ की राजकुमारी से व्याह किया, वहाँ दूसरी ओर चीन के कितने ही सूबों को तिब्बत-साम्राज्य में मिला चीन सम्राट् को अपनी लड़की देने पर मजबूर किया। इससे पूर्व, कहते हैं, भोट में लेखन-कला न थी। स्रोङ्-चन ने सम्भोटा को अक्षर सीखने के लिए नेपाल भेजा, जहाँ से वह अक्षर सीख कर पीछे तिब्बती अक्षर निर्माण करने में समर्थ हुआ। नेपाल राजकुमारी के साथ ही तिब्बत में बौद्ध

धर्म ने प्रवेश किया, और राजनीतिक विजेता का धार्मिक पराजय हो गया। आज भी नेपाल की वह राजकुमारी तारा देवी अवतार की तरह तिब्बत में पूजी जाती है। तिब्बत के सभ्यता में दीक्षित करने में नेपाल प्रधान है।

इसके अलावा नेपाल उपत्यका के पुराने निवासी नेवारों की भाषा तिब्बती भाषा के बहुत सन्निकट है। भाषा तत्वज्ञों ने नेवारी भाषा को तिब्बत-बर्मी शाखा की भाषाओं में से माना है। तिब्बती में सिउ मा रो (कोई नहीं है) कहेंगे तो नेवारी में सु मारो। नेपाल और तिब्बत का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक है, इसमें सन्देह नहीं। सम्राट् स्रोङ् चैन ने ही ल्हासा को राजधानी बनाई। उसके १०० वर्ष बाद आठवीं शताब्दी के मध्य में भोट राज स्रोङ्-दे-चन ने नालन्दा के आचार्य शान्त रक्षित को धर्म प्रचार के लिए बुलाया, और इस प्रकार भारतीय धर्म प्रचारकों के लिए जो द्वार खुला वह बारहवीं शताब्दी में भारत के मुसलमानों द्वारा विजित होने तथा नालन्दा, विक्रमशिला आदि विश्वविद्यालयों के नष्ट होने तक बन्द न हुआ। इन शताब्दियों में आजकल का दार्जिलिंग-ल्हासा वाला छोटा रास्ता मालूम न था। भोट से भारत के लिए तीर्थ-यात्रा करने वाले तथा भारत से भोट में प्रचार करने के लिए जाने वाले सभी को नेपाल के मार्ग ही जाना पड़ता था। धर्म के सम्बन्ध में जैसा नेपाल मध्य स्थान रखता था, वैसा ही व्यापार के सम्बन्ध में भी। भोट की चीजों को भारत और भारत

और मठों पर भी वैसी ही श्रद्धा रखते हैं। इसी प्रकार हर एक नेपाली के अनेक भोटिया घनिष्ठ मित्र हैं, और उनसे भय नहीं सहायता की ही संभावना है। लेकिन लूट के वक्त वे भलेमानुस तो स्वयं अपनी आग को देखेंगे, लूटनेवाले तो दूसरे ही आवारे गुण्डे होंगे।

उस दिन हमें सारी रात फिक्र में बिताने की आवश्यकता नहीं हुई। शाम से पूर्व ही सूचना मिली, और इस सूचना के फैलाने में राज-कर्मचारियों ने भी सहायता की कि शर्बा पकड़ लिया गया है; राजदूत ने अपने आप ही उसे सरकार के हवाले कर दिया; सौदागरों को डरना नहीं चाहिए; कोई लूट-पाट नहीं होने पायेगी। दूसरे दिन दूकानों के खुलने पर सभी के मुँह में नेपाली राजदूत के लिए प्रशंसा के ही शब्द थे। मालूम हुआ, राजदूत ने शर्बा को हवाले ही नहीं किया, साथ ही सशस्त्र रुकावट भी नहीं डाली। इसमें शक नहीं कि यदि राजदूत डट जाता तो शर्बा का ले जाना उतना आसान नहीं था। दूतावास में केवल २५, ३० सैनिकों के होने पर भी बन्दूक और गोला-बारूद इतना था कि वे दो-तीन सौ नेपाली प्रजाजनों को मुकाबले के लिए तैयार कर सकते थे। दूतावास भी शहर के भीतर था, जिस पर प्रहार करने के लिए पास-पड़ोस को भी नुकसान पहुँचाना पड़ता। नेपाली सैनिक हिम्मत निशानेबाजी आदि में भी भोट सैनिकों से बहुत बढ़े हुए हैं। लेकिन राजदूत के सामने तो सवाल था कि वह एक शर्बा को कुछ समय के लिए बचा रक्खे या हज़ारों नेपाली प्रजा

अपनी दूकानों के ऊपर जाकर प्रतीक्षा करने लगे कि अब लूट मंडली आना ही चाहती है। उस समय की बात कुछ न पूछिए। लोग महाप्रलय के दिन को मिनटों में आया गिन रहे थे। मैं भी नेपाली लोगों के साथ रहता था और अधिकांश जन मुझे भी नेपाली ही समझते थे। इसलिए मैं भी उसी नैया का यात्री था। दो बजे दिन दूकानें बन्द हुई। रात को किस वक़्त तक वह दशा रही इसे मैं नहीं कह सकता। रात को कोई दुर्घटना नहीं हुई, इसलिए सवेरे फिर सभी दूकानें खुल गई। एक दिन और इसी प्रकार दूकानें बन्द हो गई। २७ अगस्त के बारह बजे मैं छु-शिङ्-शार (जिस व्यापारी कोठी मे मैं रहता था) के कोठे पर बैठा था। मैंने देखा, दक्षिण से दूकानें बन्द होती आ रही हैं, सड़क पर अपनी दूकानें लगा कर बैठे नरनारी अपनी विक्रेय वस्तुओं को जल्दी जल्दी समेट कर गिरते-पड़ते घरों के भीतर भाग रहे हैं। कोई किसी को कुछ कह भी नहीं रहा था, जो एक को करता देखता है, उसी की नक़ल वह भी करता था। जरा सी देर में किसी सरकारी आदमी से मालूम हुआ कि पल्टन शर्बा को पकड़ने नेपाली दूतावास में गई है। नेपाली कहने लगे, अब लूट शुरू होगी। भोटवासियों की भाँति नेपाली सौदागर भी बौद्ध हैं,[1] और एक ही तरह की तांत्रिक पूजा पर विश्वास रखते हैं। लामों

---

१. [वे सब गोरखे नहीं हैं, नेपाल के पुराने निवासी नेवार हैं जिनकी भाषा आदि का सम्बन्ध भोट से ही अधिक है।]

श्लोकों या १६, १७ महाभारतों के बराबर के कन-जुर (=ब्कड्-ऽग्युर=बुद्ध-वचन-अनुवाद) और तन-जुर (=स्तन-ऽग्युर=शास्त्र-अनुवाद) नामक दो महान् संग्रह (जिनमें हजार दो हजार श्लोकों के बराबर के ग्रन्थों को छोड़ बाकी सभी भारतीय साहित्य के अनुवाद हैं) पाँचवें दलाई लामा सुमतिसागर (१६१६-१६८१ ई०) के समय में काष्ठ-फलकों पर खोदे गये। सम्भव है, उससे पूर्व भी छोटी बड़ी कितनी ही पुस्तकों का मुद्रण-फलक बनाया गया हो। आजकल तो प्रायः सभी मठों में ऐसे मुद्रण फलक रहते हैं। ल्हासा के उक्त पर-ग्वा (=छापने वाले) अपना कागज-स्याही ले जाकर वहाँ से छाप लेते हैं। उन्हें इसके लिए मठ को कुछ नाम मात्र का शुल्क देना पडता है। छापने वाले ही पुस्तक-विक्रेता भी हैं। जो-खङ् (=ल्हासा के प्राचीनतम और प्रधान मन्दिर) के उत्तरी फाटक के बाहर आये बीसों पुस्तक विक्रेता पुस्तकें लिये बैठे दिखेंगे।

बोधिचर्यावतार की भोटिया प्रति के खरीद लाने से पूर्व ही मुझे यह ख्याल हो गया था कि पढ़ते वक्त संस्कृत भोट शब्दों का संग्रह करता चलूँ; आगे चलकर भोट-संस्कृत-कोष बनाने में इससे सहायता मिलेगी। १३ अगस्त से मैंने यह काम शुरू किया। कई महीनों के परिश्रम से मैंने बोधिचर्यावतार, स्रग्धरास्तोत्र, ललितविस्तर, सद्धर्मपुंडरीक, करुणा पुंडरीक, अमरकोष, व्युत्पत्ति अष्टसाहस्रिका, प्रज्ञापारमिता ग्रंथों को देख डाला। इनमें से कुछ पुस्तकें मेरे पास पहुँच गई थी, और कुछ की हस्तलिखित संस्कृत

प्रतियाँ छु-शिङ्-शाके मंदिर से मिलीं। अभी मुझे सूत्र, विनय, तंत्र, न्याय, व्याकरण, कोष, वैद्यक, ज्योतिष, काव्य के पचास के करीब ग्रंथों और सैकड़ों छोटे निबंधों को देखना था। मैं अपने कोश के लिए कम से कम ५० हज़ार शब्दों को जमा करना चाहता था, लेकिन पीछे मुझे अपना मत परिवर्तन कर समय से पूर्व ही भारत लौटने का निश्चय करना पड़ा। उस समय मैंने उन शब्दों को भोट-अकारादि क्रम से जमा करा लिया। इसमें सब मिलाकर १५ हज़ार शब्द हैं। आज तक के छपे तिब्बती—अंग्रेज़ी कोशों में किसी मे इतने शब्द नही आये हैं।

जब मैं ल्हासा पहुँचा था, तो १३० रुपये के करीब मेरे पास रह गये थे। यद्यपि छु-शिङ्-शा-कोठी में रहते, ८, १० रुपये मासिक शारीरिक निर्वाह के लिए काफ़ी थे, तो भी वहाँ एक तो मुझे पुस्तकों की ज़रूरत थी, दूसरे मैं शीघ्र 'दूसरे' एकान्त स्थान में जाना चाहता था, जहाँ खर्च भी चढ़ जाता। मेरे मित्रों ने विशेष कर भिक्षु आनन्द कौसल्यायन और आचार्य नरेन्द्रदेव ने, नवंबर के आरम्भ तक २६४) भेज दिये थे, तो भी स्थायी प्रबन्ध तब तक न हुआ, जब तक पुस्तकें लेकर लौट आने की बात पर लंका से रुपये नही आ गये।

शब्दों के जमा करने के साथ मैंने कंन्युर तन्-न्युर की छान बीन भी करनी शुरू की। ल्हासा नगर के भीतर मुरुमठ अपनी कर्मनिष्ठता के लिए बहुत प्रसिद्ध है। यह चोङ्-ख-पा की गद्दी पर बैठने वाले ठि-रिन्पोछे के आधीन है। वहाँ हस्तलिखित तन्-

श्लोकों या १६, १७ महाभारतों के बराबर के कन-जुर (=ब्कड्-ऽग्युर=बुद्ध-वचन-अनुवाद) और तन-जुर (=स्तन-ऽग्युर=शास्त्र-अनुवाद) नामक दो महान् सग्रह (जिनमें हजार दो हजार श्लोकों के बराबर के ग्रन्थों को छोड़ बाकी सभी भारतीय साहित्य के अनुवाद हैं) पाँचवें दलाई लामा सुमतिसागर (१६१६-१६८१ ई०) के समय में काष्ठ-फलकों पर खोदे गये। सम्भव है, उससे पूर्व भी छोटी बडी कितनी ही पुस्तकों का मुद्रण-फलक बनाया गया हो। आजकल तो प्रायः सभी मठों में ऐसे मुद्रण फलक रहते हैं। ल्हासा के उक्त पर-वा (=छापने वाले) अपना कागज-स्याही ले जाकर वहाँ से छाप लेते हैं। उन्हें इसके लिए मठ को कुछ नाम मात्र का शुल्क देना पड़ता है। छापने वाले ही पुस्तक-विक्रेता भी हैं। जो-खङ् (=ल्हासा के प्राचीनतम और प्रधान मन्दिर) के उत्तरी फाटक के बाहर आये बीसों पुस्तक विक्रेता पुस्तकें लिये बैठे दिखेंगे।

को रोजमेयर साहेब मिलने के लिए आये। ये गन्तोक्-ग्यांची लाइन के तार विभाग के निरीक्षक हैं। उस साल भोट सर्कार को भी अपनी ग्यांची-ल्हासा की तार लाइन के खम्भों को बदलवाना था, इसलिये इन्हें बृटिश सर्कार से कुछ दिन के लिए उधार लिया था। मैंने ल्हासा आते वक्त नगाचे के पास इन्हें घोड़े पर जाते देखा था, लेकिन उस वक्त मुझे विशेष ख्याल न आया। मैं तो आते ही समझ गया कि मुलाकात में ज़रूर कुछ और भी बात है। तो भी यह मैं कहूँगा कि रोज़मेयर महाशय मुझे बड़े ही सज्जन प्रतीत हुए। उन्होंने 'क्या काम कर रहे हैं', आदि पूछकर फिर दूसरी बात शुरू की। उनसे सबसे बड़ा फ़ायदा मुझे यह हुआ कि उन्होंने अभी हाल में छपी, मिस्टर पर्सिवेल लेण्डन् की नेपाल नामक पुस्तक के दोनों भाग मेरे पास भेज दिये। मैंने उन्हें बड़े चाव से पढ़ा। यह पुस्तक नेपाल पर बहुत कुछ प्रमाणिक तो है ही, साथ ही उसमें नेपाल और तिब्बत के सम्बन्ध पर भी काफ़ी रोशनी डाली है, जिसकी उस वक्त मुझे बड़ी आवश्यकता थी। ल्हासा छोड़ने के पहले रोज़मेयर महाशय एक बार (१७ नवंबर को) और मेरे पास आये। नेपाल-तिब्बत युद्ध के बारे में उन्होंने कहा, ये दोनों ही देश अंग्रेज़ सर्कार के मित्र हैं, वह इनमें भला कैसे युद्ध होने देगी। यह बात कितने ही अंशों में ठीक थी। लेकिन तिब्बत की राजधानी ल्हासा वह अखाड़ा है, जहाँ पर अंग्रेजी, चीनी, और रूसी राजनीतियाँ एक दूसरे से मिलती हैं। ल्हासा के से-रा, डे-पुङ् आदि मठों में रूसी इलाके के

शाम होते ही फिर उन्हें घर के भीतर रख लेते थे। सर्दी के मारे पानी घर के भीतर भी जम जाया करता था। एक दिन मैं लिख रहा था, देखा स्याही बोर बोर कर लिखने पर भी कलम बार बार लिखने से रुक जाती है। मैं अपने लेख में इतना तन्मय था कि मुझे यह ख्याल ही न रहा कि स्याही कलम की नोक पर जम रही है। मैं कलम की नोक पर स्याही की जमी बूँद को कुछ दूसरा ही समझकर झटक रहा था। कुछ देर बाद मुझे अपनी गल्ती मालूम हुई; फिर मैंने फौंटेन-पेन इस्तेमाल करना शुरू किया, तब फिर कोई दिक्कत नहीं आई।

४ २. तिब्बत का राजनैतिक अखाड़ा

ल्हासा पहुँचने पर जब मैंने अपने को भारतीय प्रकट कर दिया, तो भला इसकी खबर अंग्रेजी गुप्तचरों को क्यों न मिलती? मेरा पत्र-व्यवहार तो खुल्लम्-खुल्ला ही रहा था। मैंने देखा मेरे सभी पत्र डाकखाने से देर करके आते हैं। मेरे मित्रों ने कुछ आदमियों के नाम भी बतलाये जो अंग्रेजी गुप्तचर का काम करते हैं। एक रायसाहेब तो—नाम याद नहीं—खास इसी लिए खुलेतौर से ल्हासा में रहा करते थे। अपने स्वतंत्र विचार रखते हुए भी वहाँ किसी राजनीतिक कार्रवाई में दखल देना मैं अपने लिए अनाधिकार चेष्टा समझता था, मेरा काम तो शुद्ध सांस्कृतिक था। लेकिन सरकार भला कब भूलने वाली थी? २७ अक्तूबर

को रोजमेयर साहेव मिलने के लिए आये। ये गन्तोक्-ग्यांची लाइन के तार विभाग के निरीक्षक हैं। उस साल भोट सर्कार को भी अपनी ग्यांची-ल्हासा की तार लाइन के खम्भों को बदलवाना था, इसलिये इन्हें बृटिश सर्कार से कुछ दिन के लिए उधार लिया था। मैंने ल्हासा आते वक्त नगाचे के पास इन्हें घोड़े पर जाते देखा था, लेकिन उस वक्त मुझे विशेप ख्याल न आया। मैं तो आते ही समझ गया कि मुलाकात में जरूर कुछ और भी बात है। तो भी यह मैं कहूँगा कि रोजमेयर महाशय मुझे बड़े ही सज्जन प्रतीत हुए। उन्होंने 'क्या काम कर रहे हैं', आदि पूछकर फिर दूसरी बात शुरू की। उनसे सबसे बड़ा फायदा मुझे यह हुआ कि उन्होंने अभी हाल में छपी, मिस्टर पर्सिवल लेण्डन् की नेपाल नामक पुस्तक के दोनों भाग मेरे पास भेज दिये। मैंने उन्हें बड़े चाव से पढ़ा। यह पुस्तक नेपाल पर बहुत कुछ प्रमाणिक तो है ही, साथ ही उसमें नेपाल और तिब्बत के सम्बन्ध पर भी काफी रोशनी डाली है, जिसकी उस वक्त मुझे बड़ी आवश्यकता थी। ल्हासा छोड़ने के पहले रोजमेयर महाशय एक बार (१७ नवंबर को) और मेरे पास आये। नेपाल-तिब्बत युद्ध के बारे में उन्होंने कहा, ये दोनों ही देश अंग्रेज सर्कार के मित्र हैं, वह इनमें भला कैसे युद्ध होने देगी। यह बात कितने ही अंशों में ठीक थी। लेकिन तिब्बत की राजधानी ल्हासा वह अखाड़ा है, जहाँ पर अंग्रेजी, चीनी, और रूसी राजनीतियाँ एक दूसरे से मिलती हैं। ल्हासा के से-रा, डे-पुङ् आदि मठों में रूसी इलाके के

सातवीं मंजिल

नव वर्ष-उत्सव

§ १. चौबीस दिन का राज-परिवर्तन

पाँचवें दलाईलामा को १६४१ ई० के करीब तिब्बत का राज मंगोल-राज गुशी खान् से मिला था। उससे पूर्व पंचम दला लामा डेपुङ् विहार के एक ड-छङ् के खन्-पो (=अध्यक्ष पंडित थे। पाँचवें दलाई लामा ने अपने मठ की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लि प्रतिवर्ष नव वर्ष आरम्भ होने के साथ २४ दिन ल्हासा में डे-पु के भिक्षुओं का राज्य होने का नियम किया। तबसे आज त वह क्रम जारी है। शासन के लिए दो अध्यक्ष, एक न्याख्य तथा अन्य आदमी चुने जाते हैं। २४ दिन के लिए सर्कारी पुल अदालत आदि सभी अधिकार ल्हासा से उठ जाता है। ने दूकानदारों को छोड़ बाकी सब को कुछ पैसे देकर दूकान का सेन्स लेना पड़ता है। जरा भी भूल होने पर मार पड़ती है,

जुर्माना होता है। लोगों ने कहा कि लामा राज्य में जेल इसलिए नहीं होती कि उससे उनको फ़ायदा नहीं। अधिकारियों का पद भी तो बड़ी बड़ी भेंटों के बाद मिलता है।

अधिमास एक ही समय न पड़ने से भोट का चान्द्र वर्ष और भारत का चान्द्र वर्ष एक ही साथ आरम्भ नहीं होता; इस साल वर्षारम्भ एक मार्च को था। इस वर्ष ९वीं (क्या शूकर) मास दो था। डे-पुङ् मठ जिनको शासक चुनते हैं, वे पहले दलाई लामा के पास जाते हैं, वहाँ से उन्हें चौबीस दिन ल्हासा पर शासन करने का हुकुम मिलता है। २ मार्च को देखा सारी सड़कें खूब साफ़ ही नहीं हैं बल्कि अपने अपने मकानों के सामने लोगों ने सफ़ेद मिट्टी से धारियाँ या चौके पूर रक्खे हैं। उसी दिन घोड़ों पर सवार ल्हासा के दोनों अस्थायी शासक दलबल के साथ पहुँच गये। हमारे रहने की जगह से थोड़ा सा पूरब हटकर ल्हासा के नागरिक बुलाये गये थे। वहीं शासकों ने २४ दिन के नये शासन की घोषणा की। फिर जो-खङ् (ल्हासा के मध्य में अति पुरातन बुद्धमन्दिर) में चले गये। अधिकारी चुनते वक़्त क़द का ख़्याल किया जाता है क्या! दोनों ही शासक बड़े लम्बे चौड़े थे। ऊपर से उन्हें और लम्बा चौड़ा ज़ाहिर करने के लिए पोशाक के नीचे कन्धे पर दो इंच मोटी कपड़ों की तह रक्खी हुई थी। साथ उनके दो शरीर-रक्षक या प्यादे एक हाथ में साढ़े चार हाथ लम्बी लाठी और दूसरे हाथ में ढाई हाथ लम्बा डंडा लिये चल रहे थे। लाठी डंडे

जाते हैं। इनके लिए दिन मे तीन चार चाय बाँटी जाती है। उत्सव के समय हर कुएँ से पानी भरनेवाले टैक्स के रूप में एक चौथाई पानी जो-खड् मे भेजते हैं। जहाँ विशालकाय देगों में चाय उबलती रहती है। लोग मुँह बाँधे (जिसमें मुँह की भाप चाय में न पड़ जाय) चाँदी या पीतल के हत्थे लगे बडे बर्तनों में मक्खन वाली चाय लिये तैय्यार रहते हैं। समय आते ही भिक्षु-संघ को चाय परसने लग जाते हैं।

§ २. तेरह सौ वर्ष का पुराना मन्दिर

पहली मार्च को मैं जो-खड् में गया। जो-खड का शब्दार्थ है स्वामि-घर। स्वामी से मतलब चन्दन की उस पुरातन बुद्ध मूर्ति से है, जो भारत से मध्य एशिया होते चीन पहुँची थी, और जब ल्हासा के संस्थापक सम्राट् स्रोङ्-र्चन-स्गम्-बो ने चीन पर विजय प्राप्त कर ६४१ ई० में चीन राजकुमारी से ब्याह किया, तो राजकुमारी ने पिता से दहेज के रूप मे इसे पाया, और इस प्रकार यह मूर्ति ल्हासा पहुँची। इस मूर्ति के प्रवेश के साथ तिब्बत मे बौद्धधर्म का प्रवेश हुआ। सम्राट् ने ल्हासा नगर के केन्द्र मे एक जलाशय को पटवा कर, वहीं अपने महल और राजकीय कार्यालय के साथ एक मन्दिर बनवाया, उसी में यह मूर्ति स्थापित है। १३ सौ वर्ष का पुराना मन्दिर और मूर्ति लोगों के ऊपर कितना प्रभाव रखती है, इसे आप इतने ही से जान सकते हैं कि आधुनिक दुष्प्रभाव से प्रभावित ल्हासा के

व्यापारी या दूसरे लोग बात बात में चाहे त्रि-रत्न (=कोन्-छोग्-ग्सुम्) की कसम खा लेंगे, किन्तु जो-वो की कसम नहीं खायेंगे। खाने पर उसे जरूर पूरा करेंगे। जो-खङ् के उत्तरी फाटक के बाहर एक सूखा सा अति पुरातन बीरी का वृक्ष है। लोग कहते हैं, यह मन्दिर के बनने के समय का है। इसी फाटक पर एक दीवार पर जो-खङ् के भीतर के सभी छोटे बड़े मन्दिरों की सूची सुन्दर अक्षरों में लिख कर रक्खी हुई है। तिब्बत के कितने ही पुराने और प्रतिष्ठित मठ-मन्दिरों मे आपको ऐसी सूचियाँ फाटकों पर मिलेंगी। भारत के भी तीर्थों मे यदि ऐसी सूचियाँ लिखकर या छपकर टँगी रहतीं, तो यात्रियों को कितना फ़ायदा होता? परिक्रमा और मन्दिरों की दीवारों पर अनेक प्रकार के सुन्दर चित्र बने हुए हैं। कहीं ल्हसम्-ये या दूसरे पुराने मठों के चित्र हैं। कहीं सुवर्ण वर्णाङ्कित बुद्ध अपने पूर्व जन्म में सैकड़ों प्रकार के महान् त्यागों को कर रहे हैं। कहीं भगवान् बुद्ध के अन्तिम जीवन की घटनाएँ अंकित हैं। कहीं भारत और तिब्बत के अशोक स्रोङ्-ब्चन्-साम्-वी आदि की किसी घटना को अंकित किया गया है। सभी दृश्य बड़े ही सुन्दर हैं। भीतर यद्यपि मूर्तियों के बहुत पुरानी होने से, उन पर प्लास्तर की एक खुदरी सी मटमैले रंग की मोटी तह जमी हुई है, तो भी उनके अंग-प्रत्यङ्ग का मान, उनकी मुख-मुद्रा, रेखाओं की लचक सभी बड़ी सुन्दर हैं। बड़े बड़े सोने चाँदी के दीपक मक्खन से भरे अखंड जल रहे थे पहले सबसे बड़ा चार सौ तोले का चाँदी का दीपक एक नेपाली व्यापारी

का दिया था। गत वर्ष भूटान के राजा ने आठ सौ तोलों का दीपक चढ़ाया है। बहुमूल्य पत्थर और धातुएँ जहाँ तहाँ जड़ी हुई हैं। भगवान् बुद्ध की प्रधान मूर्ति के अतिरिक्त और भी चन्दन या काष्ठ की मूर्तियाँ पास के छोटे देवालयों में रक्खी हैं। कई पुराने भोट सम्राटों की मूर्तियाँ भी हैं। प्रधान मन्दिर के सामने की ओर दूसरे तल पर अपनी दोनों रानियों (चीन और नेपाल की राजकुमारियों) के साथ सम्राट् स्रोङ्-ब्चॅन-साम्-बो की मूर्ति है। मन्दिर के पत्थर पत्थर, दरो-दीवार से ही नहीं, बल्कि वायु से भी १३०० वर्ष के इतिहास की गंध आती है।

बाहर निकल कर देखा, एक महतीशाला में ऊँचे ऊंचे आसनों पर बैठे तीन चार सौ भिक्षु खर-स्वर से सूत्रपाठ कर रहे हैं। उनके वस्त्र बहुत मैले और पुराने हैं। हर एक के सामने लोहे का भिक्षापात्र रक्खा हुआ है। मालूम हुआ, ये ल्हासा के सबसे कर्मनिष्ठ भिक्षु हैं, जो म्यु-रू और र-मो-छे के विहारों में रहते हैं।

चार मार्च को फो-रका लामा का म्यु-रु (मु-रु) मठ में धर्मोपदेश होनेवाला था। लोग जौकन्दर-जौक जा रहे थे। फो-रं-का लामा विद्वान् भी है, और सारे तिब्बत में धर्म का अति सुन्दर व्याख्याता है। लोग कह रहे थे, यथार्थ में थम्स्-चद्-म्ख्येन्-पा (=सर्वज्ञ) तो यह है। एक ओर कहाँ फो-रं-का लामा का मनोहर शिक्षाप्रद उपदेश, और दूसरी ओर नव वर्ष के सर्कारी उपदेशक को भी उपदेश करते देखा। बेचारे ने भेंट-घाँट के भरोसे पर तो २४ दिन के लिए इस पद को पाया था। देखा, धर्मासन

की ओर जाते वक्त दस पाँच स्त्री-पुरुष, हाथ रखने के लिए अपना शिर उनके सामने कर देते हैं। व्यासगद्दी पर बैठ जाने पर २०, २५ आदमी खड़े हो जाते हैं। धर्मकथिक जी, व्याख्यान देते रहते हैं, और लोग आते जाते रहते हैं। एक दिन शाम को जब उनका उपदेश हो रहा था, तो हम भी कौतूहल-वश उधर चले गये। सुना तो हजरत फ़र्मा रहे हैं—डाकिनी माई अद्भुत-शक्ति वाली हैं, उनको हाथ जोड़ना चाहिए, और पूजा करनी चाहिए; वज्रयोगिनी माई बड़ी प्रभावशालिनी हैं, उनकी पूजा और नमस्कार करना चाहिए। बस यही धर्मोपदेश था।

§ ३. महागुरु दलाई लामा के दर्शन

२ मार्च को तो सारा बाजार बन्द था। ३ मार्च को नेपाली दूकानें खुल गईं। दूसरों को अभी पैसा देकर नये शासकों से लाइसेन्स लेना था। ५ मार्च को शहर में बड़ी तैयारी हो रही थी। लोग सड़कों को खूब साफ कर रहे थे, और सजा रहे थे। मालूम हुआ, कल महागुरु की सवारी आयगी। सवारी सात बजे सवेरे ही आनेवाली थी। लोग पहले ही से जा जाकर सड़क के दोनों ओर खड़े हो गये थे। हम भी सवारी देखने गये। सड़क पर बड़ा पहरा था। सड़क के इस पार वाले लोग उस पार जाने नहीं पाते थे। पहले घोड़ों पर सवार हो मन्त्रियों के नौकर लाल छत्राकार टोपी लगाये निकले। फिर मंत्री लोग। फिर चि-टुङ् (=भिक्षु अफ़सर), फिर फुटा (=गृहस्थ-अफ़सर) फिर सेनापति नाग-

और इस चार घंटे के लिए भी हाट वाली दूकान दारिनें अंगीठी पर चाय रख कर लाती हैं। ठाट जो ठहरा। कपड़े-लत्ते से लेकर घास-भूसा तक सभी चीजें, हाट में बिकती हैं।

§ ६. अनमोल चित्रों और ग्रंथों की प्राप्ति

टशी-ल्हुन्पों में डग्-पा शर्-चे, किल-खङ् और थुसा-ग्लिङ् चार ड-छङ् (विभाग) हैं। खन्पो भी चार ही हैं। किसी समय भिक्षुओं की संख्या ३८०० थी, किन्तु टशी-लामा के चीन चले जाने से अब न उतने भिक्षु हैं, और न वैसी व्यवस्था, हाला कि जहाँ तक खाने-पीने का सम्बन्ध है, यहाँ के निवासी से-रा डे-पुङ् से अच्छी हालत मे हैं।

एक खम्-जन् (=विद्यालय) का प्रधान भाग कर टशी-लामा के पास चला गया, उस पर सर्कार का भी कुछ रुपया बाक़ी था। सर्कार ने खम्-जन् पर जुर्माना कर दिया। इस वक्त लोग उसकी चीजें बेंच रहे थे। हमे पता लगा कि चीजों में चित्रपट भी हैं। पहुँच गये। वहाँ पर हमे तीन चित्रपटमाला पसन्द आई। एक मे ग्यारह और बारह चित्रपट थे, जिनका विषय अधिकांश भारतीय और भोट देशीय आचार्य थे; दूसरी माला मे ८ चित्र एक साथ जुटे हुए थे। ये सभी रेशमी कपड़े पर थे और इनमे नागार्जुन, असग, वसुबधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि भारतीय दार्शनिक चित्रित थे। तीसरी माला मे भगवान् बुद्ध और उनके बाद की शिष्य परम्परा के कितने ही स्थविरों के चित्र थे। हम पहली दोनों

मालाओं को ही खरीद सके, क्योंकि खम्-बा सौदागर ने कह दिया था, जितना पैसा लेना हो एक ही बार ले लीजिये; और हमने जो पैसा लिया था, उसमें और के लिए गुंजाइश न थी।

१६ मई को एक अनमोल चीज़ हाथ लगी। पास के मठ के एक लामा ने सुना कि भारत का एक लामा आया हुआ है। उसके पास ताड़पत्र की एक पुस्तक थी। उसने अपने आदमी के साथ उस पुस्तक को इस शब्द के साथ हमारे पास भेजा कि यह क्या पुस्तक है इसकी हमें खबर दें, और पुस्तक अपने पास रक्खें, क्योंकि हम तो पढ़ना ही नहीं जानते। मैंने कुटिल[1] अक्षरों को देखते ही समझ लिया कि यह दसवीं-ग्यारवीं शताब्दी से इधर की पुस्तक नहीं हो सकती। नाम वज्रडाकतंत्र देखने से ख्याल आया कि यह तो कंग्युर् में अनुवादित है। किन्तु उस समय मेरे पास सूची न थी। मैंने उनसे कह दिया कि मेरे ख्याल में यह कंग्युर् में अनुवादित है; यदि अनुवादित न होगी तो मैं पीछे नाम आदि लिखूँगा। पीछे देखने से मालूम हुआ कि उक्त ग्रंथ कंग्युर के तंत्र विभाग में अनुवादित है। और अनुवाद भी ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में वैशाली के कायस्थ पंडित गंगाधर ने उसी श-लु मठ के एक भिक्षु की सहायता से किया था जहाँ के लामा ने उसे अब मेरे पास भेजा।

[१. नागरी से ठीक पहले हमारे अक्षरों का जो रूप प्रचलित था, वह अक्षरों के चक्कर दार होने से कुटिल कहलाता है। सातवीं से दसवीं शताब्दी ई० तक सारे भारत में कुटिल लिपियाँ प्रचलित थीं।]

पिछली बार १९२६ ई० में लदाख गया था, तो वहाँ मुझे टशील्हुन्पो के पास किसी मठ के एक तरुण लामा मिले थे। उनके पास भी एक ताड़पत्र पर लिखी पुस्तक थी। पूछने पर उन्होंने बतलाया था कि उनके मठ में बहुत सी पुरानी ताड़पत्र की पुस्तकें हैं। उन्होंने अपने मठ का नाम डोर् बतलाया था। मैंने बहुतेरा खोजा, किन्तु किसी ने डोर् का पता नहीं बतलाया, पीछे समझा, जिस ताड़पत्र को मैंने अपनी आँखों से देखा, उससे तो इनकार नहीं कर सकता, किन्तु पचासों ताड़पत्र की पुस्तकें होने की बात ठीक नहीं जँचती। अब की बार (१९३३ ई०) जब दूसरी बार मैं लदाख पहुँचा, तो मालूम हुआ, कि उस डोर् मठ का दूसरा नाम एवं गोम्बा है। उसके संस्थापक स-स्क्य पण्-छेन् (१११५-१२५१ ई०) थे; और वह स्नर्-थङ् से ऊपर कोई आधे ही दिन के रास्ते पर है। अब मुझे पुस्तकों के होने पर विश्वास है। मेरी समझ में स-स्क्य और एवं इन्हीं दोनों मठों में, जो कि दोनों ही स स्क्य-पा सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, वे संस्कृत के पुराने हस्त-लिखित ग्रंथ हैं, जिन्हें भारतीय पंडित ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में भारत से ले गये। स-स्क्य के बारे मे यह भी सुनने में आया कि वहाँ ऐसे भी कुछ ग्रंथ हैं जिस का भोट भाषा में अनुवाद नही हो सका। हिन्दी के आदि कवि और सन्तमत के प्रवर्तक चौरासी सिद्धों के भी बहुत से ग्रंथ इसी मठ में तर्जुमा हुए थे। मुझे बड़ा अफसोस होता है कि मैं इन दोनों मठों में नहीं जा सका।

१५ मई को स्तन्-ग्युर् छप कर आ गया। बीच में एक बार और जाना पड़ा था। ल्हासा में जैसे पुस्तकों को बाँधा था, वैसे ही यहाँ भी किया। हाँ यहाँ मोमजामा नहीं मिल सका। बोरी और याक् के चमड़े पर ही सब्र करना पड़ा। चमड़े के मामले में मुसलमान कसाई ठगने भी लगा था; उसने याक् के बड़े चमड़े को जगह ज़ो (गाय और याक की दोगली नसल) का चमड़ा भेज दिया। हमने उसे लौटा दिया। उसने समझा परदेसी हैं, झख मार कर लेंगे; चमड़े को हमारे द्वार पर पटक कर रोब दिखलाकर दाम माँगने लगा। हमने दाम देने से इन्कार कर दिया। गुस्सा मुझे वर्ष छः महीने बाद ही आया करता है; और वह तभी जब कोई धोखा दे कर मूर्ख बनाना चाहता है, या आत्म-सन्मान के विरुद्ध बात कर बैठता है। उस दिन भी गुस्सा आ गया। ख़ैर लोग उसे पकड़ कर ले गये। पीछे उसकी अकल ठिकाने आई। डरने लगा कहीं मामला जोङ्-पोन् के पास गया तो लेने के देने पड़ेंगे।

हमने पुस्तकों को अच्छी तरह बाँध २० अप्रैल को गदहों पर लाद फ-री-जोङ् के लिए रवाना कर दिया। यहाँ से बिना ग्यां-ची गये भी फ-री का एक सीधा रास्ता है।

दसवीं मंजिल

वापसी

§ १. भोट की सीमा को

२१ मई को मैं और धर्मकीर्ति सवेरे सात बजे चल पड़े। श-लु विहार रास्ते से दो ढाई मील दाहिनी ओर हट कर है। १० बजे हम श-लु विहार में पहुँचे। यह भी भारतीय विहारों के ढङ्ग के पुराने भोट देशीय विहारों की तरह समतल भूमि पर बना है। चारों तरफ चहर दीवारी है। पंडित बु-स्तोन् रिन्-छेन्-ग्रुब (रिन्-छेन्-डुब्—१२९०-१३६४ ई०, जिनके मुकाबले का भोट देश में दूसरा कोई न भूतो न भविष्यति) यहीं के थे। यहाँ बु-स्तोन् पंडित की संग्रह की हुई कंग्युर और स्तन्-ग्युर की मूल हस्त लिखित प्रति भी है; जिसको देख कर मि-वङ् ने स्नर्-थङ् का छापा बनवाया। सात आठ सौ वर्ष पुरानी मूर्तियों, पुस्तकों तथा अन्य

चीजों की यहाँ भर मार है। भारत से लाई पीतल और चन्दन की मूर्तियाँ भी कितनी ही हैं ! एक बुद्ध-मूर्ति वर्मी ढंग से चीवर पहने खड़ी थी; जिसमें कि चीवर वस्त्र का एक छोर बायें हाथ की हथेली में रहता है। भिक्षु ने पूछा, यह हाथ में लकड़ी है क्या ? मैंने समझाया, आज भी वर्मा में इस तरह चीवर पहनने का रवाज है, यहाँ कई हस्तलिखित कं-ग्युर् और स्तन्-ग्युर हैं। कुछ तो बहुत ही सुन्दर और पुराने हैं। मि-वङ् के छापे के पहले पहल छपे कं-ग्युर् और स्तन्-ग्युर् की भी प्रति यहाँ मौजूद हैं। मंदिरों के दर्शन और कुछ चाय पान के बाद मेहरबान लामा से हमने विदाई ली; और बारह बजे बाद वहाँ से चल दिये। अब फिर वही देखा रास्ता नापना था। बस, रात हम एक गाँव में ठहरे; और २२ मई को ११ बजे दिन को ग्यांची पहुँच गये।

कहाँ एक सप्ताह में टशी-ल्हुन्पो से लौट आनेवाले थे, और कहाँ बाइस दिन लग गये। मैंने ल्हासा से चलते वक्त भदन्त आनन्द को तार दिया था। पत्र में भी लिख दिया था कि अमुक दिन भारत पहुँच जायेंगे। इधर २२ दिन लग गये, और मैंने उनको सूचना भी नहीं भेजी। उन्होंने कलकत्ता, पत्र लिख कर पूछा। कलकत्तावालों ने बतलाया, ल्हासा से चलने के अलावा हमें कुछ नहीं मालूम। लंका जा कर अब की मुझे भिक्षु बनना था। जिस परम्परा में मुझे भिक्षु बनना था, उसमें साल में एक ही बार संघ किसी को भिक्षु बनाकर अपने में सम्मिलित करता है। इसलिए भी तरद्दुद हो रहा था।

ग्यांचो पहुँच कर हमारी एक खचरी को कडी बीमारी हो गई। हम तो डर गये। किन्तु भोट में हर एक खच्चरवाला वैद्य भी होता है। एक खच्चरवाले ने आ कर दवा की, खचरी अच्छी हो गई। तो भी हम २३ मई को साढ़े बारह बजे से पूर्व रवाना न हो सके।

ग्यांची से भारत की सीमा तक की सड़क पर अँग्रेज सर्कार की भी देख रेख रहती है। जगह जगह पुल भी हैं। बीच बीच में ठहरने के लिए डाक बँगले हैं; जहाँ से फोन भी किया जा सकता है। यहाँ भी हमें जहाँ तहाँ पत्थर के उजड़े मकान दिखाई पड़े, जिनके उजड़ने का कारण लोगों ने मंगोल युद्ध बतलाया। १२ मील चल कर रात को हमने चंदा गाँव में मुकाम किया। सारा गाँव पत्थर के ढेर जैसा है। कोई अच्छा मकान नहीं। लोग भी ज्यादा गरीब मालूम होते हैं। २४ मई को फिर चले। अब हम नदी के साथ साथ ऊपर की ओर चढ़ रहे थे। पहाड़ वृक्ष शून्य। उनमें कितने रङ्गवाले पत्थर-मिट्टी दिखाई पड़ते थे। स्तरों का निरीक्षण भी कम कौतूहलप्रद न था। करोडों वर्ष पूर्व समुद्र के अन्तस्तल में जो मिट्टी एक के ऊपर एक तह पर तह जमती थी, परवर्ती भूचालों ने समुद्र के उस पेंदे को उठाकर मीलो ऊपर ही नहीं रख दिया है, बल्कि उन स्तरों को भी कितना बिगाड़ दिया है। कहीं कही कुछ स्तर तो अब भी नीचे की ओर झुके हैं; किन्तु कहीं तो वे बिल्कुल आड़े खड़े हो गये हैं। दस लाख वर्ष पहले यदि हम इस राह सफर करते होते तो इतनी चढ़ाई न पड़ती,

और शायद कुछ आराम रहता; किन्तु तब हम मनुष्य की शकल में ही कहाँ होते ? इस ओर इसी प्रकार के विचार मेरे मन में उत्पन्न हो रहे थे। बीच बीच में धर्मकीर्ति से बौद्धधर्म और दर्शन पर वार्तालाप होने लगता था। धर्मकीर्ति को सबसे ज़्यादा जिस बात को मैं समझाना चाहता था वह थी, जूठ का परहेज। मैंने इसे समझाने में बड़ी दिक्कत महसूस की। फिर एक बार कहा— देखो, तुम ऐसा समझो कि हर एक आदमी के मुँह में ऐसा हलाहल विष भरा है, जिसका थोड़ा परिमाण भी यदि दूसरे के मुँह में चला जाय तो वह मर जायगा; यह समझते हुए जब कभी तुम्हारा हाथ मुँह में जावे तो तभी उसे धो डालो, आदि।

२४ मई को ३०, ३१ मील चल कर सन्-दा गाँव में ठहरे। यहाँ घर सुन्दर थे। एक अच्छे घर के कोठे पर डेरा लगा।

यहाँ से आगे अब गाँव कम होने लगे। रास्ते में कला नाम का गाँव मिला, जो किसी समय बड़ा गाँव था; किन्तु अब कितने ही लोग घर छोड़ कर चले गये हैं। परती पड़ गये खेतों की मेड़ें भी बतला रही थीं कि किसी समय यहाँ अधिक जन रहते थे। आगे एक प्राकृतिक सरोवर मिला। सर्दी की वृद्धि से पता लग रहा था कि हम लोग ऊपर ऊपर उठ रहे हैं। ग्यांची से चौसठवें मील के पत्थर पर से हमें हिमालय मामा के हिमाच्छादित धवल शिखरों का दर्शन हुआ। मालूम होने लगा, अब भारतमाता समीप हैं। तो भी अब तो गाँव में फल रहित वृक्षों का भी अभाव

लोक में आ गये। पूरे सर्प दिन बाहर हरे भरे जंगल और उसके निवासी नाना वर्ण के पक्षियों को देख कर चित्त आनन्दोल्लसित हो उठा। अब देवदार के वृक्ष पहले छोटे फिर बड़े बड़े आने लगे। घरों की छतें भी यहाँ देवदार की पट्टियों से छाई थीं। लोगों के देखने से मालूम हुआ कि हम दूसरी जाति के लोगों में आ गये। ये लोग शरीर और कपड़ों से साफ सुथरे थे। जंगल की हरियाली और सुगंध का आनन्द लेते शाम को हम कलिङ्-खा गाँव में पहुँचे।

§ ५. पहाड़ी जातियों का सौंदर्य

गाँव में सौ से अधिक घर हैं। देवदार का लकड़ियों को बेदर्दी से प्रयोग किया गया है। छत फर्श कड़ियाँ किवाड़ ही नहीं, दीवारों तक में लकड़ी भर दी गई है। घर में चौबीस घंटे चूल्हे के नीचे आग जलती रहती है। हम लोग अपने खचरवाले के घर में ही ठहरे। गाँव के सभी मकानों की तरह यह भी दोतल्ला था। छतें भी ऊँची थीं। नीचेवाला हिस्सा पशुओं के लिए सुरक्षित था ऊपर वाला मनुष्यों के लिए। ऊपर बाहर की ओर एक खुली दालान सी थी; पीछे दो कमरे—एक में रसोई घर जिसमें सामान भी था, दूसरे कमरे में देवता-स्थान तथा भडार था। तिब्बत से तुलना करने पर तो यहाँ की सफाई अवर्णनीय थी। वैसे भी लोग साफ़ थे। यहाँ की स्त्रियों की जातीय पोशाक गढ़-वाली और कनौर की स्त्रियों की भाँति साड़ी है। मुँह भी उनका

अधिक आर्यों का सा है; चेहरा उतना भारीभरकम नहीं, न नाकें ही उतनी चिपटी हैं। रंग गुलाबी। हिमालय में तीन स्थानों पर सौन्दर्य की देवी का वरदान है—एक रामपुर बुशहर राज्य में सतलज के ऊपरी भाग में किनारों का देश (किनौर)[1], दूसरा काठमांडव से चार पाँच दिन के रास्ते पर उत्तर तरफ़ यल्मो लोगों का देश; तीसरा यही डो-मो प्रदेश (जिसे अंग्रेजी में चुम्बी उपत्यका लिखने का बहुत रवाज चल पड़ा है।) इन तीन जगहों पर प्रकृति देवी ने भी अपने धन को दिल खोल कर लुटाया है। यद्यपि यल्मों मे कम से कम पहाड़ के निचले भाग के सौंदर्य को नवागत लोगों ने नष्ट कर दिया है, तो भी ऊपरी हिस्से में, जहाँ यल्मो लोग रहते हैं, वैसी ही देवदारों की काली घटा रहती है। मैं सौंदर्य का पारखी तो नहीं हूँ, तो भी मैं अव्वल नम्बर किनारी को, दूसरा नम्बर डोमोवासिनी को और तीसरा नम्बर यल्मो-विहारिणी को दूँगा; लेकिन यह आँख-नाक-मुख की रेखाओं के ख्याल से। रंग लेने पर यल्मों विहारिणी प्रथम, डोमो-वासिनी द्वितीय और किन्नरी तृतीय होंगी। इन तीन जगहों में क्यों इतना सौन्दर्य है, इस पर विचार करने पर मुझे ख्याल आया, कि आर्य और मंगोल रुधिर का संमिश्रण भी इसमें खास हाथ रखता है।

[१. प्राचीन किन्नर-देश आधुनिक कनौर के स्थान पर था, यह बात पहले पहल भारत भूमि और उसके निवासी में सिद्ध की गई थी। राहुल जी ने उसे स्वीकार कर लिया है।]

आर्य रुधिर के ख्याल से किन्नरी प्रथम, डोमो वासिनी द्वितीय और यल्मो-विहारिणी तीसरी निकलेगी। किन्नरी में तो मैं अस्सी फी सदी आर्य रुधिर ही मानने को तय्यार हूँ, चाहे उसकी भाषा इसके विरुद्ध जबर्दस्त गवाही देती हो। किन्नरी और डोमो-विहारिणी की एक तरह की ऊनी साड़ियाँ भी विशेष महत्त्व रखती हैं। हाँ डोमो के पुरुषों के चेहरे में वे विशेषतायें उतने परिमाण में नहीं मिलेंगी जितनी उनकी स्त्रियों में।

डो-मो उपत्यका बड़ी ही मनोहर है। खचरवालों के आग्रह से हम एक दिन और वहीं रह गये। डोमो निवासी खेती करते हैं, किन्तु खच्चर लादना उनका प्रधान व्यवसाय है। यहाँ लोग आलू आदि तरकारियाँ बोने के भी शौकीन हैं।

§ ६. डोमो दून के केन्द्र में

३० मई को चाय पान के बाद चला। यहाँ हमें अब भारतीय छोटे कौव्वे दिखाई पड़े, तिब्बत में तो कौवे क्या हैं, ड्योढ़ी दूनी चील्हें हैं। यहाँ के घरों में कोयलें घर बना कर वैसे ही रहती हैं, जैसे अपने यहाँ गौरैया। नदी की बाईं ओर से हमारा रास्ता था। रास्ता सुन्दर था। एक घंटे चलने के बाद हम स्यासिमा पहुँचे। यहाँ अंग्रेजी कोठी, डाक, तारघर, कुछ सैनिक तथा कुछ दूकानें हैं। बाजार भारत के पहाड़ी बाजार जैसा मालूम होता है। १९०४ ई० की लड़ाई के बाद कई वर्षों तक हर्जाने में अंग्रेज सरकार ने डो-मो उपत्यका पर अपना अधिकार कर लिया था। उस वक्त

यही स्या-सियामा शासन केन्द्र था। पीछे चीन ने हर्जाने का रुपया दे दिया, और तीन चार वर्ष बाद डो-मो फिर तिब्बत को मिल गया। शंका तो थी, कि कहीं भारतीय को इधर से आते देख अंग्रेजी अधिकारी कोई आपत्ति न खड़ी करें। किन्तु ग्यांची से फरी तक हम भोटिया लिबास में थे, और अब नेपाली फुन्दनदार काली टोपी, वैसा ही पायजामा और कोट पहिने जा रहा था।

आगे का छेमा गाँव भी सुन्दर बड़े बड़े मकानों वाला, तथा वनस्पति सम्पत्ति से परिपूर्ण था। रिन्-छेन् गङ् भारी गाँव है। हाँ, इन सभी गाँवों में हमसे दो दो टंका खचरों की चढ़ाई का लिया जाता था। रिन्-छेन्-गङ् में धर्मकीर्ति मिल गये। मैंने कहा भले मिले, अब साथ ही चलो। यहीं से रास्ता दाहिने को चढ़ने लगा। आगे एक पत्थर की टूटी किलाबन्दी में से निकले। पानी बरस रहा था। वर्ष भर तक हम कड़ी वर्षा से सुरक्षित स्थान में थे, इसलिए यह भी एक नई सी चीज़ मालूम हुई। आज देवदार के घने जंगलों के बीच ग्यु थङ् की सराय में निवास हुआ। सराय की मालकिन एक बुढ़िया थी। लकड़ी की इफरात है ही; खूब बड़ी सराय बनाई गई है, जिसमें सौ से डेढ़ सौ घोड़ों के साथ आदमी ठहर सकते हैं। खच्चरवाले अपने घोड़ों के लिए चारा साथ लाये थे।

§ ७. एक देववाहिनी

हम लोगों के लिए एक साफ़ कोठरी दी गई। उसके बीच में

आग जलाने का स्थान भी था। चाय पीने के बाद हम लोग गप करने लगे। उसी वक्त दो स्त्री पुरुष आ गये। सरायवाली ने बड़े सन्मान से हमारी कोठरी के एक खाली आसन पर जगह दी। इससे जान पड़ा, कि ये कोई विशेष व्यक्ति हैं। जब तक दिन रहा तब तक उस दम्पती ने चाय पान आदि में बिताया। हमारे पूछने पर उन्होंने यह भी बतलाया कि कलिम्पोङ् में वे डो-मो-गे शे लामा के दर्शनार्थ गये थे और मकान फरी के पास है। सूर्यास्त के करीब स्त्री अँगड़ाई लेने लगी। पुरुष कभी हाथ पकड़ कर खड़े होने से रोकता, कभी देवता की मूर्तिवाले डब्बे को उसके शिर पर रखता, और कभी हाथ जोड़ कर विनती करता—आज क्षमा करें। मालूम हुआ, स्त्री देववाहिनी है। देवता इस वक्त आना चाहता है। पुरुष भी शायद ऊपरी मन से ही हमें दिखाने के लिए वैसा कह रहा था। कुछ ही मिनटों में स्त्री पुरुष को झटक कर उठ खड़ी हुई, और सरायवाली की कोठरी की ओर गई। देखा—उस कोठरी में सामने पाँच सात घी के चिराग़ जला दिये गये हैं। पीछे एक मोटे गद्देवाले आसन पर विचित्र ढंग का कपड़ा और आभूषण पहने वह स्त्री बैठी है। सामने कई ओर पीतल के बर्तनों में छाङ् (= कच्ची शराब) रक्खी हुई है। घरवाले देवता का आगमन सुन भीतर बाहर जमा हो गये हैं। पुरुष ने एक डंडा लगा दोनो ओर चमड़े से मढ़ा भोटिया बाजा अपने हाथ मे पकड़ा। स्त्री ने धनुही जैसी लकड़ी से उसे बजाना शुरू किया। साक्षात् सरस्वती उसकी जीभ पर आ बैठीं।

पद्य छोड़ गद्य में कोई बात ही उसके मुँह से नहीं निकलती थी। शायद भोट भाषा में दीर्घ ह्रस्व का झगड़ा न होने से भी यह आसानी थी। पहले पद्य में (देवता ने) अपना परिचय दिया। खच्चरवालों की कुछ स्त्रियाँ भी अपने गाँवों से घास ले कर यहाँ आई थीं, वे भी जमा हो गई थीं।

अब लोगों ने अपने अपने दुख देवता के सामने रखने शुरू किये। प्रश्नकर्ता को एक दो आना पैसा सामने रख कर हाथ जोड़ सवाल करना होता था। जो सवाल करने की शक्ति नहीं रखते थे, वे आनरेरी वकील रख लेते थे, जिनकी संख्या वहाँ काफी थी। देववाहिनी बीच बीच में प्याले से उठाकर छग पीती जाती थी। किसी ने पूछा—हम बहुत होशियार रहते हैं, तब भी हमारी खचरी की पीठ लग जाती है, इसका क्या उपाय है?

देववाहिनी ने कहा—

हाँ, हाँ, मैं यह जानूँ हूँ। खचरी रोग पिछाणूँ हूँ॥
रस्ते में एक काला खेत। वहाँ है बसता भारी प्रेत॥
उसकी ही यह करणी है। पर खचरी नहिँ मरणी है॥
पाव छग एक अड चढ़ाव। खचरी का है यही बचाव॥

उस दिन सारी सराय भरी रही। तीस चालीस आदमी से कम यहाँ नहीं रहे होंगे। करीब करीब सब के ही घर में कोई न कोई दुःख था। किसी की स्त्री की टाँग में पत्थर से चोट आ गई थी—वह भी भूत ही का फेर था। किसी के लड़के की आँखें

आई थी—यह चुड़ेल का फरेब। किसी के घर का एक खम्भा टेढ़ा हो गया था—यह काले पिशाच का काम। किसी के लड़का नहीं था—दो भूतनियों ने नाजायज दखल दिया है। देर तक हम भी भूत लीला देख रहे थे। इस बीच में देववाहिनी के सामने दो ढाई रुपये के पैसे जमा हो गये। हमने काँछा को पट्टी पढ़ाई। कहा दो आना पैसा जायेगा, जाने दो। तुम भी हाथ जोड़ कर एक ऐसा प्रश्न करो। काँछा ने पैसे रक्खे, और वकील द्वारा अपनी अर्ज सुनाई—घर से चिट्ठी आई है, मेरा लड़का बहुत बीमार है; कैसा होगा?

देववाहिनी—

हाँ, हाँ, लड़का है बीमार। मैंने भी है किया विचार॥
देश के देवता हैं नाराज। तो भी चिन्ता का नहिं काज॥
नगरदेव है सदा सहाय। और देव को लेय मनाय॥
जाकर पूजा सब की कर। मंगल होगा तेरे घर॥

काँछा ने पासवालों को चुपके से बतलाया, मेरा तो ब्याह भी नहीं हुआ है। पर दो एक आदमी का विश्वास न भी हो, तो उसका क्या बिगड़ने वाला है? उसने इतनी भीड़ों को इकट्ठे देख मूँड़ने की सोची; और रात में २॥, ३ रुपया आँख के अँधों को जेब से निकाल लिया।

§ ८. शिकम राज्य में

दूसरे दिन (१ जून) को हम ऊपर चढ़ने लगे। चढ़ाई कड़ी

थी। ऊपर से वर्षा भी हो रही थी। ऊँचाई के कारण थोड़ी थोड़ी देर पर खच्चर दम लेने के लिए रुक जाते थे। चढ़ाई का रास्ता कहीं कहीं सर्प की भाँति था। जे-लप्-ला के ऊपर जाकर कुछ बर्फ थी। यही भोट और शिक्रम अर्थात् अंग्रेजी राज्य की सीमा है। एक जून को आखिर हम ब्रिटिश साम्राज्य की छत्रछाया पहुँच गये।

उतराई शुरू हुई। दो तीन मील उतरने पर कु-पुक् का डाक-बँगला है। यहाँ दो तीन चाय-रोटी की दूकाने हैं। मालूम हुआ, अब यहाँ से कलिम्पोङ् तक ऐसा ही रहेगा। हर जगह गोर्खा लोगों की चाय रोटी की दूकानें और टिकान मिलेगी, घास तो बहुत थी, किन्तु अभी वृक्षों की मेखला नीचे थी। पानी बरस रहा था। आज यहीं रहने का निश्चय हुआ।

२ जून को कुछ चलने पर तु-क्रो-ला मिला, और फिर आगे डे-ला। ये वस्तुतः ला नहीं ला के बच्चे थे। जिनके लिए कोई विशेष चढ़ाई नहीं चढ़नी पड़ती। डे-ला से तो कड़ी उतराई शुरू हो गई। बीच बीच में चाय पीते हम पैदल ही उतर रहे थे। ३॥ बजे के करीब फदम्-चेङ् गाँव में पहुँचे। यहाँ से नीचे देवदार का अभाव है। अब गर्मी काफी मालूम होने लगी। पानी की मोरी पर जाकर हमने साबुन लगा कर स्नान किया। यहाँ से पूछने पर हम अब अपने को मधेसिया (युक्तप्रान्त-विहार का निवासी) कहने लगे। रात को यहीं रहे।

· ३ जून को भी फिर उतरने लगे। सारा पहाड़ नीचे से ऊपर तक विशालकाय हरे वृक्षों से ढँका था। कहीं कहीं जंगली केला भी दिखाई पड़ता था। पक्षियों के कलरव भी मनोहर लग रहे थे। बीच बीच में गाँव और खेती थी। गाँव वाले सभी गोर्खा हैं, जो कि नेपाल छोड़ कर इधर आ बसे हैं। नौ बजे हम कुछ घरों के गाँवों में पहुँचे। सभी घरों में दुकान थी। यहाँ मक्खियों के दर्शन हुए; और दस बीस हज़ार नहीं अनगिनत। शिकम की सीमा में घुसते ही मीठी दूधवाली चाय मिलने लगी थी। हम तो तिब्बत की मक्खनवाली नमकीन चाय के भक्त हो गये थे। यहाँ मक्खियों की इतनी भरमार देख हमारी हिम्मत चाय पीने की न हुई। रोटी आदि का जलपान कर फिर चले। दोपहर के वक्त हम रो-लिङ्-छु-गङ् पहुँचे। यहाँ तक बराबर उतराई रही। यहाँ कई अच्छी दुकानें थीं, जिनमें से दो एक छपरा के दूकानदारों की थीं। बहुत दिन बाद परिचित भोजपुरी का मधुर स्वर कानों में पड़ा। मुझे वहाँ ठहरना मंजूर न था, इसलिए परिचय नहीं दिया। मेरे वस्त्र से तो बेचारे नेपाली ही समझते रहे होंगे। यहाँ लोहे के पुल से नदी पार कर फिर कड़ी चढ़ाई शुरू हुई। अब हम बड़े बड़े चम्पा के जंगल में जा रहे थे। जिधर देखिये उधर ही हरित-वसना पर्वतमाला। सभी पहाड़ों पर गोर्खा कृषकों की कुटियाँ बिखरी हुई थीं। खेती मक्का की ज्यादा थी। दो बजे से पूर्व ही हम डुम्-पे-फङ् या दो-लम्-चेङ् पड़ाव पर पहुँच गये। आज यहीं विश्राम करना था। एक शिकमी सज्जन से भेंट हुई। उनसे शिकम

के बारे में कुछ पूछा पाछा। मालूम हुआ कि शिकम राज्य में शिकमियों की संख्या दस पन्द्रह हजार से ज्यादा नहीं है, बाकी सब नई बस्ती गोर्खा लोगों की है।

४ जून को फिर कड़ी उतराई उतरनी पड़ी। नीचे पहुँचने से थोड़ा ऊपर भोम लक्ष्मी कन्याविद्यालय का साइनबोर्ड देखा, और फिर थोड़ा उतर कर एक पुल। यही शिकम राज्य और दार्जिलिङ्ग जिले की सीमा है।

§ ९. कलिम्पोङ् को

फिर चढ़ाई शुरू हुई। आगे पेन्दोङ् बाजार मिला। यहाँ ईसाई मिशन का एक विद्यालय है। बाजार नीचे जैसा खूब बड़ा है।

कल हमने भाड़े वाले खच्चर की पीठ कटी देखी। अब हमारी हिम्मत चढ़ने की न हुई। अपनी खचरी को लिया, किन्तु नाल टूट जाने से वह भी लँगड़ा रही थी। बाजार में नाल लगाने वाला न मिला। लाचार, पैदल ही चलना पड़ा। इस बाजार से आगे लकड़ी ढोनेवाली गाड़ियाँ भी सड़क पर चलती देखीं। एक छोटी पहाड़ी रीढ़ पार कर, दोपहर बाद अल्-गर्-हा बाजार में पहुँचे। यहाँ छपरावालों की बहुत सी दूकानें हैं। मेरे साथी सब पीछे रह गये थे, इसलिए पानी पीना और थोड़ा विश्राम करना था। एक दूकानदार से भोजपुरी में पानी पीने को माँगा। उन्होंने तो मुझे समझा था नेपाली। फिर क्या पूछते हैं। बड़े आग्रह से

दूध डाल कर चाय बनवा लाये। एक मुँह से दूसरे मुँह होती कई छपरा वासियों के कान में बात पहुँच गई। शीतलपुर के मिश्र जी ने सुना, तो वे दौड़े आये। उनका आग्रह हुआ कि भोजन किया जाय। उनसे यह भी मालूम हुआ कि उनकी मिश्राइनजी हमारे परसा[1] ही की लड़की हैं। आज किसी पूजा के उपलक्ष में घर में पूआ-पूड़ी बनी थी। उस आग्रह को भला कौन टाल सकता था ? भोजन करना पड़ा। मिश्र जी की कपड़े सिमेंट और आटा दाल आदि की दूकान है। मालूम हुआ जैसे दार्जिलिङ्ग जिले की खेती गोर्खा लोगों के हाथ में हैं, वैसे ही मारवाड़ियों की बड़ी दूकानें छोड़ बाकी दुकानें छपरावालों के हाथ में हैं। रहने का भी आग्रह हुआ, लेकिन उसके लिए तो मेरे उज्र को उन्होंने स्वीकार कर लिया।

नाल लगवाने का प्रबंध यहाँ भी न हो सका। इसलिए खचरी को हाथ से, पकड़े मैं वहाँ से चला। कुछ दूर तक कुछ आदमी पहुँचाने के लिए आये।

सड़क अच्छी थी। आस पास खेतों मे मक्का लहलहा रहा थी। बारहवें मील के पत्थर से सड़क मोटर की हो गई। जगह जगह बँगले और गृहोद्यान भी दिखाई पड़ने लगे। कलिम्पोङ् शहर भी नजदीक आने लगा। सूर्यास्त के समय कलिम्पोङ् पहुँच

[१. सारन ज़िले में एकमा कस्बे के पास एक गाँव, जहाँ के मठ में लेखक कुछ दिन रहे थे।]

गये। रास्ते पर बौद्ध सभा का कार्यालय मिल गया। श्रीधर्मादित्य धर्माचार्य[1] उस वक्त वहाँ ठहरे हुए थे। वहीं हमारा डेरा भी पड़ गया।

दूसरे दिन अपनी पहुँच का तार लंका भेज दिया। पुस्तकों के भेजने का प्रबन्ध छु-शिङ्-शा के एजन्ट और गुह्यकोठी[2] के मालिक भाजुरत्न साहु के जिम्मे था। हाँ, कुछ चित्रपटों को अच्छी तरह नहीं पैक किया गया था। उन्हें निकाल कर हमने एक नये लकड़ी के बक्स में बंद करवाया, और अपने साथ रेल पर ले जाना तै किया। धर्मकीर्ति इधर हरियाली देख कर बड़े प्रसन्न हुए थे; किन्तु अब गर्मी उन्हें परेशान करने लगी। कहने लगे, आगे जाने पर हमारे लिए मुश्किल होगा। आखिर जून का मास तो हम लोगों के लिए भी असह्य है (कलिम्पोङ् का नहीं) किन्तु वे तो ध्रुवकक्ष के पास के रहनेवाले थे। तो भी मैंने समझाया।

§ १०. कलिम्पोङ् से लंका

यहाँ से सिलीगुड़ी स्टेशन तक जाने के लिए टैक्सी की गई। ६ जून को तीन बजे हम लोग रवाना हुए। उतराई ही उतराई

[१. नेपाल के एक बौद्ध विद्वान्; जन्म से नेवार; कलकत्ते के नेपाल (= नेवार) भाषा-साहित्य-मंडल के संचालक।]

[२. कलिम्पोङ् की एक व्यापारी कोठी का नाम। भाजुरत्न नेवार नाम है। तांत्रिक वज्रयान के अनुयायियों के लिये गुह्य शब्द में बड़ा आकर्षण है।]

थी। उतराई के साथ गर्मी बढ़ती जा रही थी। तिस्ता नदी का पुल पार होते होते धर्मकीर्ति को कै होनी शुरू हुई और बराबर होती ही रही। पहाड़ उतर कर हम सम भूमि पर आये। यहाँ के गाँवों की आबादी सारी बंगाली मुसलमानों की है। दृश्य भी बहुत कुछ बंगाल सा है। धर्मकीर्ति को बहुत कै हुई। गर्मी थी ही, ऊपर से मोटर की तेज सवारी, जब कि विचारों को घोड़ागाड़ी की सवारी का भी अभ्यास नहीं था।

शाम को जब सिलीगुडी स्टेशन पर पहुँचे, तो धर्मकीर्ति का शरीर शिथिल हो गया। मैंने समझ लिया, रेल और भारत की जून की गर्मी को बेचारे पर लादना अनिष्टकर होगा। मैंने उसी टैक्सी वाले को कहा कि इन्हें लौटाकर कलिम्पोङ् पहुँचा दो। इस प्रकार खिन्न चित्त से एक सहृदय मित्र को अकस्मात् छोड़ना पड़ा।

रात की गाड़ी से कांछा और मैं कलकत्ता के लिए रवाना हुए। सबेरे कलकत्ता पहुँचे। हरीसन रोड पर छु-शिङ्-शा की दूकान में ठहरे। लंका से तीन हजार रुपये ल्हासा में पहुँच गये थे। अभी चार सौ रुपये और आये थे। मुझे लंका जाने से पूर्व पटना और बनारस में कुछ मित्रों से मिलना था। उस समय सत्याग्रह का देश में खूब जोर था। कलकत्ते में भी मैंने लाठीप्रहार देखा। १० जून को पटना पहुँचा। ब्रजकिशोर बाबू स्वराज्य-आश्रम में मिले। वहीं पता लगा, कि बीहपुर में राजेन्द्र बाबू पर

लाठीप्रहार हुआ, पटना में प्रोफ़ेसर जयचन्द्र जी के यहाँ ठहरे। १२, १३ को बनारस में रहा। भदन्त आनन्द के बाद इस यात्रा में मेरी सब सहायता से अधिक सहायता आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने की थी। उनसे मिलना और कृतज्ञता प्रकट करना मेरे लिए ज़रूरी था।

१५ जून को कलकत्ता लौट आया। भारत में इन पुस्तकों के रखने का कोई वैसा उपयुक्त स्थान भी मेरा परिचित न था; और अभी मुझे लंका जाना था। इसलिए पुस्तकों के भेजने का काम मैंने छु-शिङ्-शा की कलकत्ता शाखा को दिया। सिंधिया-नेवीगेशन[^१] कम्पनी के लंका में एजन्ट श्री नानावती ने कम्पनी के जहाज द्वारा पुस्तकों के मुफ़्त भेजने का प्रबंध कर दिया था। इस प्रकार इस ओर से निश्चिन्त हो १६ जून को मैं लंका के लिए रवाना हुआ। २० जून को लंका पहुँचा।

मेरे और भदन्त आनन्द के उपाध्याय त्रिपिटकवागीश्वराचार्य श्रीधर्मानन्द नायक महास्थविर ने २२ जून मेरी श्रामणेर प्रव्रज्या का दिन निश्चित किया। प्रव्रज्या लेने के कुछ ही मिनटों पूर्व गुरुजनों की ओर से नाम परिवर्तन का प्रस्ताव आया। उससे पहले न मैंने कुछ सोचा था, और न उस समय बहुत बात करने

[^१]: १६३३ में मेरी पुस्तकें चित्रपट और सारा सामान भेजने में भी सिंधिया कम्पनी ने वैसी ही उदारता दिखलाई। अब वह सारा संग्रह पटना म्युज़ियम में रक्खा हुआ है।

को अवसर था अब तक मैं रामोदार साधु के नाम से पुकारा जाता था। मैंने झट रामोदार के रा से राहुल बना दिया, और साधु के सा को अपने गोत्र सांकृत्य से मिला सांकृत्यायन जोड़ दिया। इस प्रकार उसी दिन भिक्षु के पीले वस्त्रों के साथ राहुल सांकृत्यायन नाम मिला।

२८ जून को संघ ने भिक्षु बनाना स्वीकार किया था। तदनुसार उस दिन कांडी नगर में संघ के सन्मुख उपस्थित किया गया; और मेरी उपसम्पदा (भिक्षु बनने की क्रिया) पूर्ण हुई।

इस प्रकार लंका से शुरू हो लंका ही में मेरी यह यात्रा समाप्त हुई।

परिशिष्ट

तिब्बत में बौद्ध धर्म से सम्बद्ध कुछ नाम और तिथियाँ

स्रोङ्-गचन्-गसम्-पो (जन्म) ५५७ ई०

स्रोङ्-गचन्-गसम्-पो (शासन-काल) ५७०-६३८ ई०

भोट में बौद्ध धर्म का प्रवेश ५८० ई०

सम्राट् मङ्-स्रोङ्-मङ्-च्चन् (शासन-काल) ६३८-६५२ ई०

हुर्-स्रोङ्-मङ्-च्चन् (शासन-काल) ६५२-६७० ई०

ल्-देन्-ग् चुग्-च्र्तन (शासन-काल) ६७०-७४२ ई०

स्रोङ्-च्दे-च्चन् (शासन-काल) ७४२-७८५ ई०

उडयंतपुरीविहार,रचना का आरम और समाप्ति ७६३-७७५ ई०

(मगधेश्वर महाराजधर्मपाल, शासन-काल) ७६९-८०९ ई०

मु-नि-च्चन्-पो (शासन-काल) ७८५-७८६ ई०

आचार्य शान्त रक्षित का प्रसिद्ध भोट देशीय कुल-पुत्रों का भिक्षु बनाना ७६७ ई०

शान्त रक्षित की मृत्यु ७८० ई०

ल्-दे-च्चन्-पो (शासन-काल) ७८७-८१७ ई०

रल्-प-चन् (शासन-काल) ८१७-८४१ ई०

दर्-म-उ-दम्-च्चन् (शासन-काल) ८४१-८४२ ई०

रिन्-छेन्-ब्सङ्-पो	९५८-१०५५ ई०
दीपंकर श्रीज्ञान का तिब्बत-निवास	९८२-१०५४ ई०
ये-शेस्-ऽोद्	१००० ई०
सोमनाथ काश्मीरी (तिब्बत में)	१०२७ ई०
श-लु मठ (स्थापित)	१०४० ई०
ग्येल् वडि-ऽब्युङ-ग्नस्	१००३-१०६४ ई०
नारोपा (मृत्यु)	१०४० ई०
मि-ला-रस्-प	१०४०-११२३ ई०
ब्चोन्-ऽग्रुस्-सेङ्-गे (मृत्यु)	१०४१ ई०
ब्यङ्-छुब्-ोद्	१०४२ ई०
द्कोन्-ग्येल्	१०७३ ई०
छोस् क्यि-ब्लो ग्रोस्	१०७७ ई०
(स-स् क्य) कुन्-द्ग ऽ-स् निङ्-पो	१०६२-११५८ ई०
फ-द्ग प-सङ्स्-ग्यस् (मृत्यु)	१११८ ई०
शाक्य श्रीभद्र (काश्मीरी)	११२७-१२३५ ई०
(स-स्क्य) ग्रग्स्-प-ग्येल्-म्छन्	११४७-१२१६ ई०
स्न र्-थङ् मठ (स्थापित)	११५३ ई०
(स-स्क्य) कुन्-द्ग ऽ-ग्येल्-म्छन्	११८२-१२५१ ई०
(स-स्क्य) ऽ क ग्स्-प	१२३४-८० ई०
(बु-स्तोन्) रिन्-छेन्-ग्रुब्	१२९०-१३६४ ई०
चोङ्-ख-प (जन्म)	१३५७ ई०

. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिः

भारत के सर्वोच्च दार्शनिक वसुबन्धु की त्रिंशिका का भाष्य मूल संस्कृत लुप्त हो चुका था। ह्विएन्-च्वाड के चीनी अनुवाद से उसका यह पुनरुद्धार संस्कृत में किया जा रहा है। वसुबन्धु का यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन का सब से महत्त्व का ग्रन्थ है, शंकराचार्य की दर्शन-पद्धति इसी पर निर्भर है। इसका पुनरुद्धार राहुल जी की विद्वत्ता और पराक्रम का जीवित फल है। यह ग्रन्थ अभी बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में निकल रहा है पूरा होने पर पुस्तकाकार छपेगा।

मेरी युरोप-यात्रा	अप्रकाशित
मेरी लंका-यात्रा	अप्रकाशित
क़ुरान-सार	अप्रकाशित
पुरातत्वनिबन्धावली	अप्रकाशित
तिब्बती प्रथम पुस्तक (तिब्बती में)	
तिब्बती व्याकरण (तिब्बती मे)	

शारदामन्दिर, १७ बारारवंभा रोड, नई दिल्ली

भारतवर्ष में जातीय शिक्षा

राष्ट्रीय शिक्षा के प्रत्येक पहलू पर विचार। यह निबन्ध १९१९ में लिखा गया था, पर विचारों की मौलिकता और विशदता के कारण आज भी ताजा है। सन् १९२१ में इसकी आलोचना करते हुए मौडर्न रिव्यू ने लिखा था—

The author of this treatise takes a very sane and wide view of National Education.......... his views are not blinded by any [illegible] spirit. Some of the suggestions are worthy [illegible] our serious consideration.

तभी प्रो० विनयकुमार सरकार ने लिखा था—

I have received your book and read [illegible] from beginning to end. Your emphasis on th[e] cultural value of fine arts deserves wide re[-] cognition among our intellectuals. I admir[e] your categorical statement in regard to th[e] function of education, viz., that it is to help i[n] the making of "creators."

शारदामन्दिर, १७ बाराखंभा रोड, नई दिल्ली

भारतभूमि और उसके निवासी

भारतवर्ष के विषय में पूरा ज्ञान देने वाली पुस्तक

नागरी प्रचारणी सभा काशी ने

सं० १९८८ की सर्वोत्तम हिन्दी रचना

जान कर इसी पर द्विवेदी-पदक दिया था। फ्रांस के
जगत्प्रसिद्ध विद्वान् सिल्व्यां लेवी ने इसे उद्धृत कर इसकी एक
बात के विषय में लिखा है—'यह एक ऐसी सूचना है जिसकी
उपेक्षा नहीं की जा सकती' (Journal Asiatique, जनवरी-
मार्च १९३३, पृ० ६)।

भारतीय खोज की प्रसिद्ध संस्था कर्न इन्स्टीट्यूट लाइडन
(हॉलैण्ड) के मन्त्री ने लिखा है—

"कर्न इन्स्टीट्यूट जो 'बृहत्तर भारत की ऐतिहासिक ऐटलस'
तैयार करा रहा है, उसके लिए आपकी पुस्तक 'भारतभूमि...'
निश्चय से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।"

स्वीडन के डा० स्टेन कोनो लिखते हैं—

"आप की भारतभूमि अत्यन्त उपयोगी निर्देश-ग्रन्थ
सिद्ध होगी।"